अनाख्या

(बारह आख्यायिकाओं का संग्रह)

राय कृष्णदास

अनाख्या

(बारह आख्यायिकाओं का संग्रह)

राय कृष्णदास
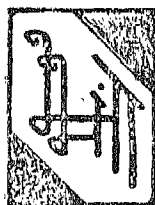
ग्रंथ-संख्या—२०

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

द्वितीय-संस्करण
सं० २००५
मूल्य १॥)

मुद्रक—
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

नोट

आनाख्या। की पहिली दो कहानियाँ १८१७ में, बाद की सात कहानियाँ १८२० में लिखी गई थीं। इसकी ग्यारहवीं कहानी १८२१ की, और 'वसन्त का स्वप्न' १८२३ की रचना है। इसमें से 'रहस्य' 'प्रतिमा' में, 'न्याय-पक्ष', 'महात्म्य' और 'दिनों का फेर' कानपुर की 'प्रभा' में, 'भय का भूत' और 'नर-राक्षस' 'त्यागभूमि' में, एवं 'गहूला' और 'कल्पना' 'मधुकरी' नामक संग्रह में प्रकाशित हो चुकी हैं। शेष, अब हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित होती हैं—'देर आयद दुरुस्त आयद' के बल पर ही इस देरी के लिये लेखक क्षमा चाहता है।

(प्रथम-संस्करण से)

१६८६

प्रिय

नान्नू

को

सूची

श्री:

अनाख्या

रहस्य

"बाबू जी, इस बार मैं इम्तहान न दूंगा ।"

" 'इम्तहान न दूंगा'! क्यों?"

"मैं अपना कोर्स नहीं तैयार कर सका हूँ।"

"एँ! तुम कह क्या रहे हो? तुमने तो मुझसे साल-भर बराबर यही कहा है कि मैं खूब तैयारी कर रहा हूँ। आज यह बात कैसे?"

"बाबू जी, वह मेरी भूल थी। मैं इस बार इम्तहान नहीं दे सकता। दूंगा तो फेल हो जाऊँगा।"

"तो उससे क्या होता है?"

"जी, आज तक सदा ही पास होता आया हूँ; इस बार यदि फेल हो जाऊँगा तो लोग हँसेंगे।"

"हँसेंगे तो हँसने दो। इम्तहान में तो लोग फेल-पास हुआ ही करते हैं।"

"दुनियां हो; मैं नहीं हुआ चाहता"—उत्तर रूखा था।

"आज तुम्हें हो क्या गया है जो ऐसी बातें कर रहे हो? तुम्हारे प्रोफेसरों से तो जब बातें हुई हैं, तब उन्होंने यही कहा है कि तुम पास होगे, और अच्छे मार्कस् से पास होगे। आज तुम यह क्या कहते हो!"

"बाबू जी, उन्होंने न जाने क्या समझ कर कहा है। मैं कभी पास नहीं हो सकता।"

"मैं तो तुम्हें रोज घन्टों किताबों में सिर गड़ाए देखता हूँ, फिर भी तुम ऐसी बातें कहते हो। अब तो केवल पन्द्रह दिन बाकी हैं, एक दफे हिम्मत कर ही डालो।"

"जी नहीं, अब मेरे किए कुछ नहीं हो सकता।"

"आखिर इसका मतलब क्या है?"

"बाबूजी, आप सच्ची बात पूछते हैं?"

"फिर नहीं तो क्या?"

"सच तो यह है कि अब मेरा मन किसी बात में नहीं लगता।"

"क्यों?"

"न-जाने क्यों।"

"ऐसा कब से होगया?"

"आज ही से।"

" 'आज ही से!' कुछ बात भी तो बताओ।"

"कुछ कह नहीं सकता। मन ही तो है। अब तो संसार छोड़ने ही में भलाई जान पड़ती है।"

"अरे रामगोपाल, तू कुछ पागल तो नहीं होगया?"

"जी, मैं यह कैसे कहूँ?"

"तुम न कहो, मैं तो कहता हूँ।"

"आप बड़े हैं, जो चाहे कहें।"

"अच्छा, संसार छोड़ कर क्या करोगे ?"

"लोग जो करते हैं।"

"आखिर कुछ सुनूं भी तो।"

"साधू हो जाऊँगा।"

"एँ? एँ? अरे! बहू क्या करेगी?"

"जो उसके भाग्य में लिखा होगा।"

"बेटा, तुम्हें क्या होगया है! तुम्हारी अक्ल कहां हवा खाने चली गई?"

"बाबूजी, अक्ल हवा खाने नहीं चली गई, आज हवा खाकर अपने ठीक-ठिकाने लौट आई।"

"अच्छा, जो मैं तुम्हें साधू न होने दूं तो?"

"तो, मैं चोरी से कहीं भाग जाऊँगा। नहीं, नहीं, जान दे दूंगा।"

"अच्छा, तुम्हारे जी में जो आवे सो करो, पर मैंने पढ़ाने-लिखाने में जो खर्च किया है, उसे मुझे चुका दो"---लाला शिवशम्भुलाल ने गम्भीर मूर्ति बन कर कहा।

"क्या मैंने आपसे कहा था कि यह सारा कष्ट उठाइए?"

"क्यों रे! तुझे इतना क्रोध है और फिर भी साधू बनने का दावा करता है? इसी बिरते पर साधू होगा?"---उन्होंने आवेश से दांत पीसते हुए कहा।

"यह लीजिये अपना जनेऊ-सनेऊ। चोटी मैं पहिले ही कटा चुका हूँ। अब मैं साधू होने चला। देखें तो कौन रोकता है?"---रामगोपाल बाहर की ओर झपटा।

परित्यक्त जनेऊ ने पैरों में उलझ कर उसे रोकना चाहा, किन्तु उसके सबूट पांवों ने एक ही झटके में उसे तोड़ डाला।

"और बहू के गहने तो देता जा, जो विलायत जाने के लिए उससे छीन लाया है"——उसकी मां ने अकस्मात् आकर उसका हाथ पकड़ते हुए कहा।

रामगोपाल को काटो तो खून नहीं।

इसी समय दूसरे कमरे से हँसी की एक मन्द झंकार सुनाई पड़ी।

न्याय-पक्ष

आकाश में दो-चार छोटे-छोटे घनखण्ड दीख पड़ते थे। वे चल रहे थे, पर इतनी अलस गति से कि संध्या की शोभा देखने के लिए ठहर गए हों। समय के साथ वे अपना रंग बदल रहे थे; अब क्रमशः लोहित से लोह-वर्ण होने की तैयारी थी। चेतन मनुष्यों से तो जड़ बादल ही अच्छे, जो समय के संग अपना रंग तो बदल लेते हैं।

सामने के क्षितिज की वृक्षावली के गहरे नीले रंग पर बस्ती का खाकी धुआं फैल रहा था। और वह कुहरे से ढकी पर्वत-श्रेणी-सी जान पड़ती थी।

मैं अपने बँगले के बरामदे में अपने एक पड़ोसी मित्र और अपनी सहधर्मिणी के साथ बैठा हुआ था। दिसम्बर की सन्ध्या के पांच बज चुके थे। सर्द हवा चल रही थी।

मैं रोज क्लब नहीं जाता था। घर पर ही टेनिस खेल लिया करता और बाग में टहल लेता। मेरे मित्र को बाग से विशेष प्रीति थी। उन्होंने मेरी बाटिका जी लगा कर सँवार दी थी। उन्हें हम लोग आदर्श जन एवं अपना कुटुम्बी समझते और मुझे तो उनका साथ छोड़, क्लब जाना न भाता। पर क्या करता, रूप बनाये रहना पड़ता था।

हम लोग अभी टहल कर आये थे। बातें शुरू होने ही को थीं कि मुझे एक पंजाबी सज्जन आते दीख पड़े। अपने प्रान्त के आदमी को देख कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। श्रीमती से बोला—"लो, यह कौन

आए!" उन्होंने भी प्रसन्न होकर उत्तर दिया—"मैं तो नहीं जानती। आप जानते हैं?"

आगन्तुक ने पास पहुँच कर पूछा—"साहनी साहब, मुझे पिछाना भी, अन्दर आ सकता हूँ?"

"शौक से, पूछना क्या है।"

बरामदे में केवल तीन ही कुर्सियां थीं। मैं बेयरा को और कुर्सी लाने को आवाज देकर खड़ा होगया। वे शिष्टाचार करने लगे। मैंने बात टालने और कौतूहल-शान्ति के लिए कहा—"चंगे हो जी, माफ करना, आपकी सूरत तो मैंने बहुत बार देखी है, पर पिछाना नहीं।"—चाकरी के चरखे में मैं दुनियां की बहुतेरी बातें भूल गया था।

"आपकी कृपा से चंगा हूँ"—उन्होंने पंजाबी में उत्तर दिया—"आपका मुझे न पहचानना कोई ताज्जुब नहीं। इधर कई वर्षों से अव्वल तो उधर आपका आना नहीं हुआ, दूसरे जब आप आये भी तब मैं संयोग से वहां था नहीं। मैं आपका पुराना हम-साया दुनीचन्द हूँ।"

मैं, अपने दोनों हाथों में उनका दाहिना हाथ दबाकर पंजाबी में बोला—"अक्खां: पण्डित दुनीचन्दजी! इधर कैसे आ पड़े? माफ़ करना जी, पहिचाना नहीं।"—फिर श्रीमती के प्रति मैंने कहा—"इनको पहचाना न?"

"पहिले ही। शकल से नहीं पहिचाना था, परन्तु बोली सुनते ही पहिचान लिया।"

बेयरा कुर्सी रख गया था। मैं उन्हें बिठाकर बैठ गया। घर से प्रायः रोज़ चिट्ठी आती है, पर पड़ोसी के मुंह से हाल सुनने की बात कुछ और ही होती है। हम लोग उनसे छोटी-छोटी बातें पूछने लगे। बातें बराबर प्रान्तीय बोली में हो रही थीं।

मेरे पड़ोसी मित्र ने कहा—"साहनी, अब तुम पण्डितजी से बातें करो, मैं चल दिया।"

"जाओगे ? अच्छा।" —हम लोगों में बिलकुल शिष्टाचार न था।

श्रीमती ने उनसे पूछा—"आप तो अभी चाय पीने वाले थे ?"

वे, "आज के बदले कल" कहकर और अपना टेनिस का थपका उठाकर उसे नचाते हुए लम्बे हुए। मैं पुकार कर बोला—"आज की नुकसानी लेते आना !" फिर पण्डितजी से पूछा—"कहिए, कारबार कैसा चलता है ?"

"सब जहां-का-तहां होगया।"

"अरे ! यह कैसे ?"

"दुनियां के कायदे से।"

"अब, इधर कैसे आना हुआ ?"

"रूठे भाग्य को खोजते-खोजते।"

श्रीमती ने कहा—"कलकत्ते जाते होंगे ?"

"हां जी।"

मैंने पूछा—"यहां कहां ठहरे हैं ?"

"कहीं नहीं। रेल से उतर कर धर्मशाला में असबाब रखता हुआ सीधा इधर चला आया।"

"क्यों, यहां क्यों न लाए ?"

"ठहरना होता तब न। दूसरी गाड़ी से रवाना हो जाऊँगा।"

"फिर यहां क्यों उतर पड़े ?"

"आप लोगों से मिलने और कर्ज लेने के लिए। मैं तो ब्राह्मण ठहरा---भीख भी मांग सकता हूँ। पर जब रोजगार करने निकला, तब भीख कैसी ?"

सिर नीचा किये हुए मैंने पूछा--"आपको कितना चाहिए ?"--सहधर्मिणी मेरा मुख देख रही थी।

"जितना दे सकिए।"

आज महीने की १८ वीं तारीख थी, परन्तु मेरे पास कुछ आने बच रहे थे। जवानी के जोश में जोड़ना थोड़े ही सूझता है। तिस पर मुझे तो इस बात का अभिमान था कि कुछ बड़ों की कमाई तो फूंकता ही नहीं, जब रूपयों के लिए नौकरी तक स्वीकार की, तब उन्हें खर्च क्यों न करें।

मैंने श्रीमती को देखा। वह मेरा मतलब समझ गईं, और बेयरा को बुलाकर उन्होंने पूछा कि तुम्हारे पास कुछ रूपये हैं ?

"जी मेम साहब, इस वक्त तो मेरे पास ग्यारह रूपये हैं।"

"अच्छा ले आओ"---मैंने कहा।

मैं 'मेम साहब' कोई आदर की संज्ञा नहीं समझता। हमारे पंजाब के 'बानू साहबा' वा 'बीबी साहिबा' में और इसमें जमीन-आसमान का अन्तर है। हमारे यहां तो किसी साधारण स्त्री का सम्बोधन उन पदों से कदापि नहीं किया जा सकता, पर यहां तो इंजिन-ड्राईवर की स्त्री भी 'मेम साहब' है। बात पड़ने पर अँग्रेजों से मैं यह कह भी देता। किन्तु मैं जिस इण्डियन सिविल सर्विस में हूँ, उसमें दुर्भाग्य-वश देशियों की संख्या इतनी कम है, उनमें भी---कहते लज्जा आती है---साहसी और देशाभिमानी इतने थोड़े हैं कि लाचार होकर हम लोगों को स्वांग रचना पड़ता है।

बेयरा रुपये ले आया। मैंने लजाते हुए उन्हें दुनीचन्द के हाथ में रख कर कहा—"खेद है, इससे अधिक आपकी सेवा नहीं कर सकता।"

"इतना तो जरूरत से ज्यादा है। जब बद-किस्मती से जंग करने निकला हूँ तो कलकत्ते का किराया भर बहुत था। वहां देख लेता। अच्छा मैं जाऊँ? इस वक्त आपका शुक्रिया किस मुंह से अदा करूँ। जिस दिन यह कर्ज चुका सकूंगा उस दिन शुक्र करूँगा।"

पण्डित जी खड़े होगये। हम दोनों ने भोजन का अनुरोध किया। किन्तु उन्होंने कहा कि ट्रेन न मिलेगी। अन्त को एक गिलास दूध लेकर वे रवाना हुए।

पं० दुनीचन्द हमारे नगर के मध्यश्रेणी के व्यापारी थे। अपने गुणों से सर्व-प्रिय होगये थे। उनका यह युगान्तर देखकर हम लोग देर तक खेद करते रहे।

ठंढ ने कहा—यह तो संसार की लीला है! उठो, घर में जाकर अपना काम देखो!

२

मुझे नौकरी करते तेरह वर्ष हो चुके थे। मेरे साथ के कितने ही गोरे सिविलियन, कलक्टर हो गए थे, पर मैं अभी जन्ट ही बना था। आंसू पोंछने के लिए कैसर-ए-हिन्द स्वर्ण-पदक दे दिया गया था। उस समय मैं पटने में नियुक्त था।

प्रातःकाल मैं अपने दफ्तर में बैठा काम कर रहा था। कुहरा अभी तक छँटा न था। बीच-बीच में सिर उठा कर मैं उसे देख लेता, उसमें मुझे अनेकों स्मृति-चित्र दीख पड़ते।

अर्दली ने आकर मीठापुर थाने के दारोगा की इत्तला की। काम ख़त्म करके मैंने उन्हें बुलाया। सलाम करके, इशारा पाने पर दारोगा ज़ाहिदअली सामने की कुर्सी पर बैठ गए। उन्होंने गिड़गिड़ाकर पूछा —'हुजूर का मिजाज अच्छा है ?"

मैंने कहा—"हां; कोई खास बात है ?"

"ग़रीब परवर, एक वाकए में अजीब कैफ़ियत हो रही है"—उन्होंने बिहार के खिचावदार लहजों में उत्तर दिया।

मैंने कुछ आश्चर्य से प्रश्न किया—"ज़ाहिदअली, क्या बात है ?"

"खुदावन्द, कल एक बदमाश पकड़ा गया है, वह हुजूर को सफाई में लिखाने कहता है !"

"मुझे खुलासा हाल सुनाओ।"

"हुजूर, कल रात को कोई आठ बजे एक मुलजिम थाने पर लाया गया, उसने पुलिस के सिपाही को पीटा था। एक इक्केवाले की शरारत से यह फ़ौजदारी हुई है। उस बदमाश ने इसी इक्केवाले की सफ़ाई दी है। हुजूर का नाम भी वह शख्श अपने चाल-चलन की सफ़ाई के बारे में लेता है।"

"क्या यहीं का रहनेवाला है ? उसका नाम ?"

दारोगा की बातें मेरे लिये पहेली से बढ़कर थीं।

"हुजूर, उसका नाम है धूनीचन्द। हुजूर के वतन का रहनेवाला है।"

"धूनीचन्द नहीं दुनीचन्द कहो"—मैंने जोर देकर कहा—"हां, उन्होंने क्या किया ?"—मैं मानों गाढ़ी नींद से जाग पड़ा था।

दारोगा आदि से अन्त तक सब कथा सुना गये। मैंने दांतों से पेंसिल

काटते हुए और अपने चमकते जूतों में अपने ऊपरी धड़ का प्रतिबिम्ब देखते हुए पूछा—"क्या उन्हें रात-भर हवालात में रक्खा था ?"

"हुजूर, बिना जाने छोड़ कैसे देता ?"

"जब वह मेरा नाम लेते थे तब मुझसे टेलीफोन में पूछ क्यों न लिया ?"—मैंने कड़ी आवाज में उन पर आंख गड़ाकर कहा।

"जी-ई-ई इतनी तो-ओ-ओ गलती हुई-ई-ई !"—उसने सिर नीचा करके हाथ में का कागज मरोड़ते हुए कहा।

मैंने जी में सोचा—"बचा, जैसी गलती हुई मैं जानता हूँ"—और उससे पूछा—"रोजनामचा लाये हो ?"

"जी, नहीं।"

"अच्छा, जाकर पं० दुनीचन्द को छोड़ दो, कचहरी में मौजूद रहने को कह देना।"

मुकदमा मेरी इजलास में था क्योंकि मैं ही शहर-हाकिम (सिटी मैजिस्ट्रेट) था। अदालत में पण्डितजी मौजूद थे। मैंने उनसे मुकदमे के बारे में कुछ न पूछा। सिर्फ एक तेज वकील से कह दिया कि आप इनके वकील बनकर मुकदमे की पैरवी कीजिये। मेरा और इक्केवाले का नाम सफ़ाई के गवाहों में लिखा दीजियेगा। फ़ीस का बिल मेरे पास भेजियेगा।

यथा-समय पण्डितजी का मुकदमा पेश हुआ। उनके वकील ने एक दरखास्त दी कि अदालत का हाकिम मेरे मुवक्किल की सफ़ाई का गवाह है, लिहाजा यह मुकदमा दूसरी अदालत में जाना चाहिए। मैंने दरखास्त मंजूर करके कलक्टर के नाम मुकदमा दूसरे हाकिम के यहां भेजने का रूबकार लिखा दिया।

इजलास खतम करके मैं बाहर आया, तो पण्डितजी को खड़े देखा। उनसे सब हाल सुनकर मैंने पूछा—अब आप कहां ठहरेंगे ?

"धर्मशाला में । आपके यहां आना मुनासिब न होगा।"

"मैं भी यही समझता हूँ।"

गाड़ी पर मैं यह सोचते-सोचते अपने बँगले पहुँचा कि इस मामले को मैं अनायास ही सबेरे तय कर सकता था। जिस समय थानेदार मेरे पास आया था, उसे यह हुक्म देना अलम् होता कि मामला न चलाओ। मेरी जगह यदि कोई गोरा जन्ट होता तो वह ऐसे मामले में निश्चय ही ऐसा करता। फिर, मैंने ऐसा क्यों न किया ? अज्ञात रूप से मेरे मन में अपने गोरे अधिकारियों का डर था। मैं शासक होकर भी शासित मात्र था। दास-जाति में जन्म लेने का यही फल है !

फिर, पण्डितजी को मैंने अपने ही यहां लाकर क्यों न रक्खा ? जिस प्रकार स्वाधीन जातियों को सदा स्वतन्त्रता का गर्व रहता है, उसी भांति पराधीनता की भावना ने हमें भी तो अपना ग्रास बना रक्खा है।

२

उसी शाम को मैं क्लब गया । टेनिस खेलकर चुरुट पीने के कमरे में पहुँचा। हमारे कलक्टर वहां डटे हुए चुरुट पी रहे थे। वह दूसरे जोड़ से पहले टेनिस खेल चुके थे। मेरी उनकी मैत्री, अर्थात् परिचय था।

इधर-उधर की बातों के बाद उन्होंने पूछा—"क्यों साहनी, तुम उस 'बदमाश' की सफाई की गवाही दोगे ?"

मैंने रुखाई से उत्तर दिया—" 'बदमाश' नहीं भलेमानस की।"

"खैर 'बदमाश' नहीं, भलामानस सही। क्या तुम उसके गवाह बनोगे?"

"डिक्सन, तुम मुझसे यह सवाल करते हो?"

डिक्सन ने रुकते-रुकते कहा—"क्यों? हां।"

"मैं समझा था कि तुम 'डेमाक्रसी' की जन्मभूमि में जन्मे हो।"

वह चुप थे। मेरे मुख पर मुस्कराहट थी। मैंने सोचा इस विषय पर कुछ और बातें हो जाना अच्छा है। मैंने छेड़कर कहा—"क्या तुम नहीं समझते कि इस मामले में भी पुलिस दोषी है?"

"साहनी, दोषी हो भी तो वे हमारे आदमी हैं। अगर हमीं उनके पीछे पड़ेंगे तो काम कैसे चलेगा?"

मैं गम्भीरता से बोला—"तो क्यों डिक्सन, अपने आदमी के लिए सत्य को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए? शायद जब अपने ऊपर आ बनती है तब हम लोगों की नीति बदल जाती है। नहीं तो एक दिन मक्खन चुराने पर अपने खानसामा को तुमने पुलिस के सुपुर्द न कर दिया होता!"

"वह तो प्रबन्ध की बात थी न? अगर उसे दण्ड न मिला होता तो आये दिन चोरियां होने लगतीं।"

"हां, उसी तरह यह भी प्रबन्ध की बात है। पुलिस के अफ़सर होकर हम लोग उन्हें ऐसी हरकतों से नहीं रोकते, उसी का तो यह फल है कि प्रतिदिन जनता के साथ, जिसके हम लोग सेवक हैं, पुलिस अन्याय करती है।"

"मगर साहनी, तुम भूलते हो, यदि पुलिस इन उपायों का उपयोग न करे, तो उसकी धाक न रह जाय और शासन करना असम्भव हो जायगा।"

"विलायत में पुलिस कैसे शासन करती है ?"

"वहां शिक्षा जो है।"

"इसमें दोष किसका है ? हम लोग भी मनुष्य हैं। क्या ऐसी उदार गवर्नमेन्ट को यह उचित है, कि मनुष्यों को पशु बनाये रहे और उनका पाशविक शासन होने दे ?"

डिक्सन साहब कुछ गम्भीर हो गए थे। वह शायद भारतवासियों के मनुष्य होने पर सन्देह कर रहे थे। बात टालने के लिए उन्होंने विगत रात्रि को सियालदा में रेल लड़ने की चर्चा छेड़ दी।

मैंने बेयरा से एक 'जिंजर बियर'[1] मँगाया और कुछ देर तक ट्रेनों की टक्कर की चर्चा करके रवाना हुआ। बाहर बरसाती में दो फौजी अफ़सर—कप्तान विलिस और लेफ्टिनेन्ट फ्रीवुड, खड़े बातें कर रहे थे। मुझे देखकर विलिस ने कहा—"आओ जी, साहनी, यह पुलिस का क्या मामला है ?"

मैंने थोड़े में समझा दिया।

फ्रीवुड कहने लगा—"हां, ये पुलिसवाले बड़े पाजी होते हैं। इन्हें तो हम लोग जानते हैं। तुम क्या जानो ? रोज हमारे सिपाहियों से काम जो पड़ा करता है। तुम्हारे सामने तो ये मेमने बने रहते हैं।"

"मैं तुम लोगों से कहीं अच्छा जानता हूँ।"

"देखो साहनी, तुम इस मामले में दबना मत"—मुझे एकटक देखते हुए विलिस ने कहा।

---

१ अमादक पेय

"दबना कैसा जी ? अपने मातहत से दबना ! जानते नहीं, मैं पञ्जाबी हूँ।" परन्तु बिजली की भांति मेरे मस्तिष्क में वे सब बातें दौड़ गईं जो मैं कचहरी से लौटते हुए सोच रहा था।

अस्तु, विलिस को उत्तर देकर मैं अपनी लेन्डो पर सवार हुआ। गाड़ी घर की ओर चली। विलिस दौड़कर पीछे के पांवदान पर उछल आया और मेरे कंधे पर हाथ रख कर कहने लगा—"आज हाथ-मिलौअल तो हुई ही नहीं।" मैंने अपना हाथ ऊँचा कर दिया। दोनों ओर से ज़ोर होने लगा। फ्रीवुड भी पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा था। फाटक के पास पहुँचते-पहुँचते वह कप्तान से बोला—"क्यों अब कप्तानी से साईसी करने की सूझी है। चलो 'ब्रिज'[1] मचे।" उसने विलिस की टांग खींचनी शुरू की। वह कूद कर लौटा। वह हमारे संग रोज़ ज़ोर किया करता। हम लोगों के शारीरिक बल में शुक्ला चतुर्दशी और पूर्णिमा का अन्तर था।

गाड़ी में मैं विचार-सागर में गोते खा रहा था।

घर पर खाने के समय मैंने श्रीमती को क्लब की सारी कथा सुना दी।

बलवन्त कुँवर ने कुछ सोचकर कहा—"आखिर आप झगड़े में क्यों पड़ते हैं ?"

"क्योंकि मेरा कर्त्तव्य है। क्या तुम्हारा समस्त ज्ञान कथन-मात्र के लिए है, जैसे इन्द्रायण की मिठास केवल सूंघने में ही मिलती है।"

"ना जी, मेरा मतलब वह न था। मैं तो यह कहती हूँ कि अपना मार्ग कण्टकित करने से क्या लाभ ?"

---

१ ताश का एक खेल

मैंने खिलखिला कर हँसते हुए उत्तर दिया—"अक्खाः अक्खाः तुम चाहती हो कि मैं रिश्वत लूं ? सुनार को कौन सी फर्मायश मिलेगी ?"

श्रीमती ने हँसकर कहा—"मैं आपकी बातें बिलकुल न समझी।"

"आज मैं यदि ईमानदारी छोड़कर बेईमानी पर कमर कसूं तो मेरा आगे का तार न बिगड़े। लोग अन्याय करने के लिए ही रिश्वत लेते हैं न ? फिर मेरी ऐसी तरक्की रिश्वत के सिवा क्या ठहरेगी ?"—मैंने बाएँ हाथ से देवी का पंजा दबाते हुए पूछा।

उत्तर मिला—"अब मुझे कुछ नहीं कहना है।"

कालिदास ने बहुत ठीक कहा है, वास्तव में "गृहिणी सचिवः मिथस्सखी प्रियशिष्या" है।"

४

❀ ❀ ❀

डिप्टी सिद्धनारायणसिंह के सामने पण्डित जी का मुकदमा पेश हुआ। पुलिस की रिपोर्ट इस भांति थी—

"बलवीर पाण्डे कानिस्टबिल...........गंज में अपनी ड्यूटी पर हाजिर था। शुकरू इक्कावान शाहराह रोके हुए अपना इक्का खड़ा किए हुए था। बलवीर ने बारहा उससे इक्का हटाने को कहा, मगर उसने कुछ खयाल न किया, उलटा टर्राने लगा। चुनांचे बलवीर ने घोड़े की लगाम पकड़कर 'हैकनीस्टैन्ड' की तरफ ले जाना चाहा, मगर मुलजिम धूनीमल (काटकर धुनीचन्द बनाया गया था) को जो उस वक्त शुकरू से कहीं का किराया तै कर रहा था, बलवीर की यह वाजिबी हरकत निहायत बुरी मालूम हुई और वह एक बारगी झुंझलाकर कानिस्टबिल पर टूट पड़ा। लातों व घूसों से उसकी खूब गत बनाई, यहां तक कि

वह जमीन पर गिर पड़ा व कई जगह चोट आ गई। अगर आस-पास के दूकानदार बीच-बिचाव न करते तो मुमकिन था कि उसे जरर शदीद पहुँचता...।"

बलवीर के होश-हवास मेरी उपस्थिति के कारण बिलकुल ठीक न थे। उसके मुंह से बयान और जिरह दोनों में कई सच्ची बातें निकल गईं। उसके गवाह भी झूठे होने के कारण और, मुकदमे का रंग देखकर न ठहर सके।

ऐसी अवस्था में डिप्टी साहब को उचित था कि मुलजिम को रिहा कर देते। पर उन्होंने ऐसा न किया, क्योंकि कलक्टर ने उन्हें चुप-चाप बुला कर डांट दिया था, कि चाहे मुकदमा कायम होने लायक न भी हो तो भी कायम किये बिना न रहना। मेरे भी गुप्तचर थे, अतः यह बात मुझसे छिपी न रह सकी।

इसमें उसका क्या उद्देश्य था, भगवान् ही जाने। क्योंकि यदि पण्डितजी रिहा कर दिये जाते तो वह फिर से उन्हें दण्ड दे सकता था। पर मुकदमा कायम हो जाने पर यदि मुलजिम सफ़ाई देकर बरी हो जाय तो कलक्टर के किए कुछ नहीं हो सकता। सम्भवतः डिक्सन ने केवल मुझे कदर्थित करने के लिए ही ऐसा किया था।

अस्तु; अब डिप्टी साहब ने मुलजिम और उसके गवाहों का बयान लेना आरम्भ किया। मेरे वहां रहने से वे बेचारे सकुच-सकुचकर, कम्पित हृदय से बहुत बाजाब्तगी के साथ सारी कार्रवाई कर रहे थे। उनकी सांप-छछूंदर की गति हो रही थी। उधर कलक्टर की आज्ञा, इधर मेरी मौजूदगी। डिप्टी कलक्टरों की दशा पर कभी-कभी मुझे बड़ा तरस आता है। बाहर तो ये लोग डिप्टी साहब होते हैं, पर कलक्टर के सामने वे कुत्तों से भी गये-बीते हैं।

पण्डित दुनीचन्द ने अपने बयान में कहा कि "मैं मिस्टर डी० एन० साहनी से ऋण लेकर धर्मशाला को लौट रहा था। वहां से असबाब लेकर स्टेशन ट्रेन पकड़ने जा रहा था। मार्ग में देखा कि जैसे ही शुकरू का इक्का घटना-स्थल पर रुका, वैसे ही बलवीर ने उससे पैसा मांगना शुरू किया । इक्कावान ने कहा—'सरकार दिन-भर में जो कमाया था, उससे टट्टू के लिए दाना, घास और लड़कों के लिए सत्तू लेकर रख आए हैं, अब कोई सवारी मिले तो उससे पैसे लेकर आपको दें।' बलवीर ने कहा कि, 'अबे ! पैसे देगा या बातें बनावेगा ? हटा, यहां से इक्का।' इस पर उसने वहां से कदम-कदम घोड़ा बढ़ाया। तब चपरासी बोला कि 'अबे, पैसे तो दिए जा, कहां भागा जाता है'—और दौड़कर उसका घोड़ा थाम लिया। शुकरू ने उत्तर दिया—'मालिक, पैसे कहां से दें, ? हम तो पैसा बना नहीं सकते।'—इतना सुनना था कि बलवीर आपे के बाहर होगया और मां, बहिन की सुनाता हुआ उस पर टूट पड़ा, तथा उसे डन्डे जमाने लगा। वह दोनों हाथों से अपना सिर बचाने लगा। बलवीर बोला—'साले, तूने गुस्ताखी की है, चल तेरा चालान करता हूँ।' मैंने यह देखकर कहा—'यह सरकारी राज्य है; तुम ऐसा नहीं कर सकते।' वह कड़क कर बोला—'चुप रह बे, बड़ा कलक्टर का नाती बना है।' फिर इक्के को थाने की ओर ले चला। मैंने उसे रोक कर कहा कि तुम बिना कुसूर किसी का चालान नहीं कर सकते। बस, वह मुझे भी बुरी-बुरी गालियां देने लगा और मेरे ऊपर डन्डा भी चला दिया । इतनी बेइज्जती पर मैं अपने को और न संभाल सका, तथा उसके तीन चपत और दो घूंसे भी जमा दिये..........।"

सरकारी वकील ने जिरह करने में कसर न की, पर सच्ची बात में कैसे हेर-फेर पड़ सकता है।

मैंने अपनी साक्षी में कहा—

"......मैं पण्डित दुनीचन्द को लड़कपन से जानता हूँ। ये व्यापार करते थे। अपनी ईमानदारी के लिए सारे नगर में प्रसिद्ध थे। इन्होंने सच्चाई के कारण कई बार हानि उठाई है। इन्होंने कभी बदमाशी नहीं की, बल्कि बदमाशों के ये बड़े भारी शत्रु थे। कई बार लुच्चों-लफंगों के पकड़ने में पुलिस को सहायता पहुँचा चुके हैं। दीन-दुखियों के ये सदैव बन्धु रहे हैं। मुझे ऐसी घटनायें मालूम हैं। १९०३ के दिल्ली दरबार के समय हमारे नगर के डिप्टी कमिश्नर से इन्हें एक प्रशंसापत्र भी मिला था। इस वारदात के प्रायः एक घन्टा पहले वे मुझसे मिले थे और ११) कर्ज लिए थे। वे कलकत्ते, व्यापार के लिए, उसी रात को जाना चाहते थे, इसलिए मुझसे ऋण लिया था। आजकल इनकी जैसी स्थिति है; उसमें तो इनका ऐसा करना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है......।"

इक्केवाले को भी मुझे गवाही देते देखकर हिम्मत हो आई थी, अतः उसका इजहार भी ठीक उतरा। पुलिस में उसका बयान दूसरे प्रकार से दर्ज हुआ था। प्रश्न करने पर उसने कहा—"हुजूर हम क्या करते, जैसा वे लोग चाहते थे, लिखवा लेते थे, अगर हम और कुछ कहते तो मार खाते।"

हाकिम ने पण्डितजी को बरी कर दिया। फैसले में उन्होंने लिखा कि "दोषी पर दण्ड-विधान की १८६ धारा (सरकारी कर्मचारी को उसके कर्त्तव्य-पालन में, बाधा पहुँचाना) और ३२? वीं धारा (मार-पीट करना) लगती है। पर प्रमाणित एक भी नहीं होती, क्योंकि खुद पुलिस के गवाहों ने कहा है कि इक्का जैसे ही रुका, बलवीर उसे हटाने लगा। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि बलवीर, कुछ अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर रहा था, क्योंकि इक्का सड़क नहीं रोके

था। वरन् हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि पैसा लेने के लिए ही उसने ऐसा किया होगा। क्योंकि प्रथमतः ऐसे कई मुकदमे पहले हो चुके हैं और पुलिस इक्केवालों से पैसे लेने के लिए दण्डित हो चुकी है। दूसरे दुनीचन्द के पहले चरित्र के बारे में, जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति ने साक्षी दी है, उससे हम मुलजिम का कथन भी सत्य समझते हैं। अब रही मारपीट, सो बलवीर ने स्वयं कहा है कि जब यह मुझसे बहुत हुज्जत करने लगे तब मैंने अपना काम करने के लिए डन्डा चला दिया। उसने एक स्थान पर यह भी कहा है कि एक बात में दस गाली दिये बिना हम लोगों का काम नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि उसने मुलजिम को भी गाली दी होगी। यहां भी हम मुलजिम की बात सच मानते हैं, बल्कि इससे उसके कथन की फिर से पुष्टि होती है। किसी भलेमानुस को इस भांति अपमानित करने पर उसके मन की क्या दशा हो सकती है, यह भलामानुस ही जानता है । यदि पण्डितजी के स्थान पर मैं होता तो शायद मैं भी इसी मार्ग का अनुसरण करता...........।"

बाबू सिद्धनारायण बड़े अच्छे आदमी थे। पर प्रायः डिप्टी कलक्टरों की भांति वे हाथ-पांव के—जगन्नाथकी प्रतिमा—हो गए थे। तिस पर इस मामले में तो बड़े साहब ने किल्ली मरोड़ रक्खी थी। इससे पुलिस-शासन पर उन्होंने फैसले में कुछ न लिखा। हां, फैसला सुनाने पर उन्होंने बलवीर को तनिक डांट-भर दिया । सच पूछिए तो इस मामले में उन्हें बलवीर पर मुकदमा चलाना चाहिए था ।

वहां से उठकर मैं सीधे अपनी अदालत में गया। मार्ग में पण्डितजी मिले, उन्हें भी अपने संग लेता गया। उस समय मैं क्रोध से भरा हुआ था। कुछ अपने अपमान से नहीं, बलवीर और सब-इन्सपेक्टर की बदमाशी से। अस्तु, मैंने उन दोनों को वहां बुलवाया और बलवीर पर

मुकदमा कायम करके उसे एक महीने के लिए मुअत्तिल कर दिया, साथ ही कलक्टर के नाम यह इस्तकार भी लिखा दिया कि यह आदमी बरखास्त किए जाने के योग्य है, एवं अपने फैसले में इतना और जोड़ दिया कि मैंने कलक्टर को इसकी बरखास्तगी के बारे में लिखा है। यदि ऐसा हुआ तो ठीक, अन्यथा यह साल-भर के लिए डिग्रेड कर दिया जाय——इसका दर्जा घटा दिया जाय। साथ ही मैंने उसमें पुलिस-शासन पर भी भली-भांति जी का उबाल निकाला।

बलवीर बहुत-कुछ रोया-गिड़गिड़ाया, पर मेरा हृदय ऐसे स्वांगों पर ध्यान न देने का भलीभांति अभ्यस्त था।

अब जाहिद हुसैन की बारी थी। पहले तो मैंने उन्हें दो-चार खरी-खोटी सुनाई। फिर कलक्टर को एक अर्ध-घरेलू चिट्ठी (D.O.) लिखी कि एक साल तक इसकी तरक्की बन्द रहनी चाहिए। बस, इतना ही मेरे हाथ में था। पर सच पूछिए तो ऐसे दण्डों का कोई फल नहीं। आवश्यकता है सारी पद्धति के नीचे से ऊपर तक सुधार की। अन्यथा सब व्यर्थ है।

मैंने अपने जाने चाहे बड़ी निर्भीकता से ही काम क्यों न किया हो, पर वास्तव में यह सब थी मेरी निःशक्तता। सच पूछिए तो मैं इस समय उस छोटे से तालाब की भांति हो रहा था जो एक भारी आंधी के आने पर कुछ क्षणों के लिए तरंगों में समुद्र का प्रतिस्पर्धी बन जाता है।

ऐसी बहुतेरी बातें होती हैं, जिनका जबानी कहते रहने पर भी, हमें अनुभव नहीं होता। किन्तु कभी एक ऐसा क्षण आ उपस्थित होता है जब हम उनका ऐसा अनुभव कर उठते हैं कि कुछ काल के लिए हमारा हृदय उन्हीं का रूप बन जाता है, और वे उस पर भलीभांति अंकित हो जाती हैं। मेरे जीवन के लिए भी यह एक वैसा ही क्षण था।

अगणित बार मैं कहा करता और विचारता कि मैं शासक होने पर भी शासित हूँ। पर इस घटना ने मेरे हृदय पर इस उक्ति की लीक-सी कर दी थी। कलक्टर का मेरे संग ऐसा बर्ताव, एक सिविलियन का दूसरे सहयोगी के प्रति पारस्परिक व्यवहार न था, बल्कि शासक की शासित के प्रति अवहेला थी। किन्तु क्या यह उचित न था? क्या हम ऐसे व्यवहार के योग्य नहीं?

५

अदालत बरखास्त होने पर मैंने पण्डितजी से पूछा—"कहिए, अब क्या इरादा है?"

"रात की गाड़ी से कलकत्ते। मेरी विपत्ति के नाटक का यह भी एक सीन था।"

पर मैंने जैसे-तैसे आग्रह करके उन्हें दो दिन को अपना मेहमान होने पर राजी किया।

बाहर आकर मैंने पण्डितजी के वकील को फ़ीस देनी चाही, पर पण्डितजी ने मुझसे कहा—"रहने दीजिए, घर से रुपये आ गए हैं। मैं दिये देता हूँ।" मैंने वकील से कहा कि आपने पैरवी अच्छी की, पर आगे से जिरह जरा और कस कर किया कीजिए।

❀ ❀ ❀

पण्डितजी के मुकदमे को प्रायः बीस दिन बीत चुके थे और मैं उसे भूल-सा गया था।

एक रविवार को तीसरे पहर कोई दो बजे मैं अपने बँगले के दफ्तर में बैठा था। थोड़ा-सा काम निबटाना था। उसे करके मैं बरामदे के एक खम्भे की ओर देख रहा था। उसका जरा-सा पलस्तर टूट गया

था। वहां की ईंटें दिखलाई पड़ती थीं और उनकी सन्दों में से, हवा से ज़रा-ज़रा मसाले की गर्द उड़ती थी। टूटे हुए पलस्तर की टेढ़ी-मेढ़ी सरहद से कभी-कभी कंकड़ियां भी झड़ पड़तीं।

कुछ देर बाद मन में बाहर चल बैठने की आई। मैंने श्रीमती को आवाज़ दी। उत्तर मिला—"इस बूटे को खतम कर के दस मिनट में आई।" मैंने विचारा, तब तक मैं ही बाहर टहलूं। ज्योंही एक पैर देहली के बाहर निकाला था कि अरदली ने लाकर समाचार-पत्र दिया। वहीं ठहर कर मैंने उसे खोल डाला और सरसरी दृष्टि से उसे देखने लगा।

दूसरे पृष्ठ पर गवर्नमेन्ट गज़ट से हाकिमों की नियुक्ति, परिवर्तन की घोषणा करने वाला अंश छपा था। उस पर भी मैंने चलती दृष्टि डाली, पर मैं चौंक उठा, क्योंकि उसमें मेरा तबादला भी छपा था। मुझे इसका स्वप्न में भी ध्यान न था। मुझे खबर ही न मिले और बात सारे संसार में उजागर हो जाय!

पर वास्तव में आश्चर्य की कोई बात न थी। उस घटना का यह फल होना स्वाभाविक था।

मैं कुछ उत्तेजित होकर उछलता हुआ श्रीमती के पास पहुँचा और अखबार का वह अंश उनके सामने करके कुछ मुस्कराते हुए उन लाइनों पर उँगली रख कर बोला—"देखो, जब ये लोग अन्याय करने से बाज़ नहीं आते, तब मैं न्याय पक्ष क्यों छोड़ूँ?"

अब मुझे क्रोध चढ़ आया था। सिविलियनों के लिए तबादला कोई कम अप्रतिष्ठा नहीं। तिस पर भी इस तरह बिना सूचना दिए हुए। यह ऐसी-वैसी मान-हानि न थी।

वीर-प्रसविनी पंजाब-रमणी का मुंह अभिमान से दमक रहा था।

माहात्म्य

"लो, निगोड़ा आज फिर ले-देकर चलता बना।"

"इतनी लाल-पीली क्यों होती हो? कुछ मालूम भी तो हो कि क्या-क्या ले गए?"

"तुम उस बखेड़िए के फेर में पड़कर अपनी मिट्टी तो खराब करते ही हो, गिरस्ती भी क्यों सत्यानाश कराते हो?"

"फिर वही; लोटा-थाली के पीछे हाय-हाय! बतलाती क्यों नहीं कि क्या ले गए?"

"वाह-जी-वाह, लोटा-थाली तुम्हारे जान कोई चीज ही न ठहरी। गिरस्ती करनी पड़े तो मालूम हो। पैसा लगता है सो लगता ही है, काम के बखत हाथ भी तो अटक जाता है।"

"बतलाओ भी तो क्या ले गये हैं? तुम्हारा नुक्सान-उक्सान कुछ नहीं हुआ है। मैं सुन लूं कि क्या गया है, तो मैं भी एक बात सुनाऊँ।"

"अरे, वह कमबख्त दो बटलें और दो साड़ियां उठाकर चलता हुआ। क्या कहूँ मिलता तो उसकी डाढ़ी में आग लगा देती। बड़ा कहीं का..........."

"शिव, शिव, शिव, ऐसे महात्मा को यह तुम क्या कहती हो! एक दिन इसका बड़ा बुरा फल पाओगी। देखो, बाबा जी जो पचास-साठ का माल ले गये तो मुझे दो सौ की जमा भी तो दे गये। उसे बेचकर अभी कल शाम को ही तो रुपया लाया हूँ। बाबाजी को जब कुछ देना

होता है तब यों ही कुछ ले-देके चलते होकर हम लोगों को परखते हैं। अरे, ये महात्मा हैं। जी लगा कर इनकी सेवा करोगी तो एक दिन न जाने क्या दे जायँगे।"

यद्यपि दो सौ का नाम सुनकर ईश्वरीप्रसाद की गृहलक्ष्मी के मुंह पर मुसकान की एक मन्द रेखा दौड़ गई थी, तो भी इस पिछले वाक्य को सुनके वह आपे के बाहर होकर कह उठी—"मुझे न सेवा करना है न मेवा खाना। तुम्हीं सेवा करो और उसका फल चक्खो। मुझे तो लाओ रुपया दो तब काम चले।"

"क्या सब ले लोगी? तुम्हारा तो पचास के भीतर-ही-भीतर नुकसान हुआ है।"

"इससे क्या होता है, भई। सारी गिरस्ती की हाय-हाय तो मुझी को करनी पड़ती है न! लाओ, मेरे पास रहेगा तो तुम्हारे ही काम आवेगा। तुम तो उसे दो-ही चार दिन में फूंक बहाओगे।"

ईश्वरीप्रसाद ने अवाक् रहकर रुपये की थैली कुपित देवता के सामने ला रक्खी और धीरे से चलते बने।

श्रीमती ने उसे गिनने पर जब पन्द्रह की कमी पाई तो न-जाने किन किन व्याहृतियों के संग पति का नाम स्मरण किया।

२

"अरे ओ, ईश्वरीपरसदवा साले! देख, डेढ़ सेर से अगर एक रत्ती भी मोहनभोग कम हुआ तो इसी सोंटे से मारते-मारते तेरे सिर का मोहनभोग बनाकर मैं चाट जाऊँगा।"—जटिल बाबा जी ने बड़ी-बड़ी मूंछ और लम्बी डाढ़ी वाले मुंह से गांजे का धुंआ फेंकते हुए लाल-लाल आंखें निकालकर सामने हाथ जोड़े हुए ईश्वरीप्रसाद से कहा।

ईश्वरीप्रसाद ने अधीनता से उत्तर दिया—"नहीं, महाराज, कमी क्यों होने लगी। कमी हो तो जो चाहे सो 'डंड' दीजिएगा। भला आपके हाथ से डंड मिले भी तो।"

"साले! बहुत डंड डंड करता है। जिस दिन डंड दे दूंगा, उस दिन बिना गाली दिये मेरा नाम भी न लेगा और मेरे पीछे पुलिस दौड़ाता फिरेगा।"

"महाराज, यह मैं कैसे मानूं?"

"ससुरे! तू न माने, लेकिन मैं तो तुझे सच्ची सच्ची बात हर घड़ी सुनाए देता हूँ कि पीछे से तू यह न कहे कि बाबाजी ने धोखा दिया। अच्छा जा, जल्दी हलुआ ले आ, और सेर भर अच्छी रबड़ी। दस लंगड़े आम और बीस चिलम गांजे का सामान—सब जल्दी ले आ। आज मैं रात भर गांजा पीऊँगा और तुझे अपनी पोल सुनाऊँगा। देख, साले, याद रखना, सब माल बढ़िया हो। घी, मिस्री, गुलाब, इलायची से तरातर हो। आम भी खूब करारे हों। अगर कहीं से कोई बात कम हुई तो यह डंडा है, मेरा हाथ है और तेरा सिर है। हां-ा-ा—"बाबाजी ने अपना यम-दण्ड तनिक-सा उसके सिर से छुआ दिया।

ईश्वरीप्रसाद कांप उठा। फिर भी उसने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज, सब अभी ठीक होता है।"

"तो साले, जाता क्यों नहीं, जा जल्दी।"

बेचारे ईश्वरी की बड़ी दुर्गति थी। इधर बाबाजी जान लिए लेते थे, उधर गृह-चण्डिका के सामने जाते प्राण सूखते थे, पास एक पैसा भी नहीं। लेकिन बाबाजी के काल-दण्ड के आगे गृहिणी की कड़वी, पर खरी, बातें कोई चीज न थीं। अतः जी कड़ा करके वह घर के ऊपरी

खण्ड में चला। मन में सोचता गया कि हाय रे सोना, तेरे पीछे यह सब दुर्गति सहनी पड़ती है। जो कहीं बाबाजी एक बार, वह गन्धक का तेल दे देते तो बस जन्म सुधर जाता।

उसके ऊपर पहुँचने पर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करना व्यर्थ है। शुरू ही में उसकी बानगी दिखाई जा चुकी है। भेद केवल इतना है कि यह उससे एक चाशनी बढ़कर था। परन्तु अंततः ईश्वरीप्रसाद सफल-मनोरथ होकर नीचे आया।

उसके नीचे आने पर उसको पांच बरस की लड़की के करुण-क्रन्दन की आवाज़ सुन पड़ी। बचा-बचाया बुखार उस पर उतारा गया था। पर इसी समय रमणी-हृदय पिघल उठा। ईश्वरी की स्त्री गोमती, रोती-रोती, क्या जाने किन चिन्ताओं में डूबती-उतराती, अपने पलंग पर, तकिये में मुंह गड़ाकर पड़ रही। थोड़ी देर में बेचारी लड़की भी आ पड़ी। दोनों भूखी ही सो गईं।

३

बाबाजी का सब सामान एकत्र करने में ईश्वरी को डेढ़ घंटे लग गये। यह थोड़ा समय न था। अतः पेट की ज्वाला शांत करने के पहले वाक्य-ज्वाला से ईश्वरी को उन्होंने भस्म कर डाला।

❀ ❀ ❀

बारह बजने को हैं। ईश्वरी का सारा घर गांजे के धुंएँ से भरा हुआ है। अभी एक चिलम जल चुकी है। हिम-सदृश शुभ्र श्मश्रु, जटा-जूट-मण्डित गौर मुख-मण्डल नशे से लाल हो रहा है। आंखें लहरा रही हैं; तो भी महात्मा पद्मासन लगाये, मेरुदण्ड सीधा किये सिंहवत् बैठे हैं। सामने ही घुग्घू बना ईश्वरी, हाथ बांधे बैठा है।

बाबाजी को देखकर पुराकाल के सोम-प ऋषियों की याद आ जाती है। उनका भव्य मुख-मण्डल और आकृति देखकर कोई नहीं कह सकता कि उनकी प्रकृति दुर्वासा या विश्वामित्र की सन्तति होगी। उन्होंने आधी बची हुई रबड़ी पीकर कहा--

"देख रे, इसरीवा, हम तुझे लूटेंगे, बुरी तरह लूटेंगे। साले! तुझे खाना-खराब करके तब कल लेंगे। तू क्यों मुझे अपने घर में घुसने देता है?"

"महाराज, आपके उसी लूटने में मुझे बरकत है।"

"हां-ां-ां! अच्छा बचा, यह बात याद रखना। पीछे जो जबान बदली, तो ससुरे, मैं कहीं भी हुआ, तुझे खपा ही डालूंगा। साले, मैं चार खून किये बैठा हूँ।"

"प्रभो! आप यह क्या कहते हैं? शिव, शिव, भला आपने कभी ऐसा..........."

"अबे, बहुत बकवाद न कर; मुझे झूठ कहना नहीं आता। मैं तो गला फाड़-फाड़कर, सुना के, तब काम करता हूँ। याद रखना, परसों के भीतर-भीतर तुझे पूरी तरह लूट कर, इस शहर से लापता हो जाऊँगा। फिर कोई मेरी परछाईं भी न देख पावेगा। मुझे एक लाख का काम है। पैंसठ हजार हो चुके हैं। बरस-भर में पैंतीस और जुटाना है। इसलिए अब मैं इस काम में देरी थोड़े ही करूँगा।"

"बाबाजी महाराज, आप किसी तरह चोरी कीजिए भी तो। मेरे ऐसे भाग्य कहां! जिस दिन........"

"फिर जिस दिन तिस दिन करता है? अरे! जिस दिन एक कौड़ी भी न रह जायगी, पागल हो जायगा, बे!"

ईश्वरी प्रेम-मग्न होगया था। बाबाजी के चरण छूकर उसे दाबते-दाबते बोला--"स्वामी, नाथ, जिस दिन आपकी कृपा होगी, सचमुच मेरे घर में कौड़ी क्यों रहने लगी। तब तो कौड़ियों के बदले मोती ही दीख पड़ेंगे । फिर भला मैं पागल नहीं हो जाऊँगा तो क्या । उसी पागलपन के लिए तो मैं तरस रहा हूँ।"

महात्मा ने जोर से दो चपत जमाकर कहा--"अबे, मोती-सोती तो नहीं, ढपोरसंख तेरे हाथ जरूर लगेंगे। हट यहां से--बड़ा बात बनाने-वाला आया।"

झापड़ खाकर वह तलमला उठा। कौन कह सकता है कि बूढ़े में इतना असीम बल होगा।

कई क्षण बाद प्रकृतिस्थ होने पर ईश्वरी बोला--"महाराज, मैं तो जब जो आप कहते हैं, वही करता हूँ। दीनानाथ, कभी तो बात नहीं काटी।"--ईश्वरी का हृदय बांसों उछल रहा था। अब उसे निश्चय था कि काम में देर नहीं।

"अच्छा तेरा यह दावा है तो साले जो मैं कहता हूँ, कर अभी। चल बता मुझको, तेरा माल-मता कहां धरा है। मैं अभी चोरी करूँगा। अभी, अभी, अभी, सुना रे!"

"प्रभो! सब जमा पूंजी तो तिजोरी में धरी है। पर उसकी ताली तो मेरे पास नहीं।"

"ताली क्या किया साले?"

"महाराज, घरनी के पास है।"

"हम कुछ नहीं जानते। चाहे जैसे हो, उसको ले आ।"--फिर उसके दो लप्पड़ लगे। बेचारा लटपटा कर गिर पड़ा।

मिनट भर की मूर्छा के उपरान्त उसने कहा—"महाराज, देखिये मैं जाता हूँ। पहले तो मुझे ही चोरी करनी होगी। पर देखिये, काम होता है कि नहीं।"

"हम यह 'देखिए-सेखिये' कुछ नहीं सुनेंगे। अगर सरऊ, बिना ताली के आये तो तुम्हें यहीं भूनकर खा जाऊँगा। बारह बजे हैं, यही समय साधना का है। अगर नर-बलि लग गई तो क्या कहना। जैसे चार किये तैसे पांच सही।"

कांपता हुआ ईश्वरी फिर जनाने को चला। बेचारी गोमती तकिये में ज्यों-का-त्यों मुंह गड़ाए, गाढ़ निद्रा में निमग्न थी। उसकी गहरी सांस से मालूम होता था कि मानों, इस समय भी लम्बी सांस ले रही हो। ईश्वरी के भाग्य से करधनी में बँधी हुई ताली, एक ओर लटकी हुई थी। उसने निस्पन्द होकर उसे खोल लिया। इसी समय कांप कर गोमती ने करवट बदली। डर के मारे ईश्वरी के हाथ से ताली छूट पड़ी। उसका हृदय इतने जोर से चलने लगा कि उसे प्राणान्त पीड़ा हो उठी। जान पड़ा कि वक्षस्थल फटा चाहता है। आप ही आप मुंह से एक चीख निकल पड़ी। किन्तु पीछे से किसी ने इतने जोर से मुंह बन्द कर दिया कि वह सुनाई न पड़ी। उसके हाथ-पांव ठंढे होगए; सिर से पसीना चलने लगा और वह बेहोश हो गया।

इतनी सब घटना पलक मारते-मारते घटित हुई। मुंह बन्द करने वाला और कोई नहीं स्वयं स्वामी जी थे। उन्होंने गिरते हुए ईश्वरी को संभालकर अनायास गोद में उठा लिया। ताली भी ले ली और नीचे चले आए।

चटपट एक चौगुनी चिलम चढ़ाकर और दो ही दम में उसे फूंक कर बाबाजी ने अपना श्रम दूर किया। तब वे मूर्छित के उपचार में लगे।

थोड़ी देर में ईश्वरी को संज्ञा हुई। बेचारा मजे में प्रकृतिस्थ भी न हुआ था कि महाराज उसे घोंटने लगे—"क्यों रे साले, ज़रा में डर गया! अगर हम तेरा मुंह न बन्द कर लेते तो तू सारा भण्डा ही फोड़ देता। और देख; तुझे उस वक्त न संभाल लेते तो तेरा सिर चकनाचूर हो जाता। समझा बे!"

"नाथ, यह आपकी कृपा है। एक तो जन्म भर ऐसा काम नहीं किया। दूसरे उसके जाग पड़ने का डर और भी मारे डालता था। देख लेती तो एक भी करम न उठा रखती।"

"छी! छी! अरे तू उस रँड़िया से इतना डरता है! शास्त्रों ने ठीक कहा है कि कलियुग के पुरुष, स्त्री के दास होंगे। अच्छा, सुन ससुरे, आज मैं चोरी नहीं करूँगा। मेरा शकुन बिगड़ गया। आज सिर्फ़ इस ताली का ठप्पा ले लूंगा। दूसरी बार ताली बना कर लाऊँगा, तब तेरी हजामत करूँगा। देख, चेत जा, अब से भी, कुछ नहीं बिगड़ा है। मेरे जाते ही सब मालमता कहीं और हटा दे, नहीं तो बिलकुल लुट जायगा।" बात खतम करते ही बाबाजी ने कहीं से मोम निकाल कर उस पर ताली का ठप्पा ले लिया। फिर ताली उसके आगे फेंककर कहने लगे—"जा इसे फिर उसी रँड़िया की कमर में बांध आ। जा जल्दी। अबकी मैं तेरे साथ न जाऊँगा, देख डरना मत।"

आदेश का पालन हुआ।

ईश्वरी के लौटने पर बाबाजी ने कड़क कर कहा—"ससुरे, कलजुग के कुत्ते, नीच, पाजी, लुच्चे, तूने मुझे क्या चोर समझा है? क्या मुझे अब यही काम बाकी रह गया है? ले अपना सांचा-फांचा।"—मोम के

टुकड़े को मसल कर गोलाकार बना के बाबाजी ने ज़ोर से उसके सिर पर मारा। चोट कुछ मामूली न थी।

किन्तु ईश्वरी का मुंह प्रसन्नता से तमतमा उठा। उसने समझा कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, और पहली श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। इस बार गहरा लाभ होगा।

बाबाजी ने बचा-बचाया गांजा फूंककर कहा—"साले, आज तेरे कारण मुझे बड़ा कष्ट हुआ—तुझे ढोना तक पड़ा! अब तेरा मुंह नहीं देखना चाहता। जा—चला जा यहां से। तेरा अन्न भी पाप-मय है। उसे भी यहीं छोड़ कर अब चला जाऊँगा। तेरा मुंह और न देखूंगा। चल हट यहां से। अब मैं यहीं टट्टी जाऊँगा, यहीं उलटी करूँगा। फिर चला जाऊँगा। खबरदार जो कहीं छिपा रहा। जा कोठे पर। लेकिन याद रख, पन्द्रह दिन के भीतर तुझ पर चौका फेर दूंगा। चतुर होगा तो चेतावनी मान लेगा। जा यहां से!"—पास पड़े हुए उपले को उन्होंने ज़ोर से उसकी छाती पर फेंका। बेचारा चोट खाकर मन-ही-मन कराहता हुआ, उठ भागा।

स्वामीजी फिर बोले—"और सुन, सूरज उगने के पहले यहां सफ़ाई हो जाय। तेरी सुलच्छना ने उठकर कुछ देखा और मेरी निन्दा की तो तेरा कल्याण नहीं।"

४

इस बार ईश्वरीप्रसाद को अच्छी रकम हाथ लगी। बाबाजी सोने की एक कामी छोड़ गये थे। वह ५००) में बिकी। उसमें से चार सौ उसने स्वयं ही, गृहलक्ष्मी के आगे रख दिये।

गोमती ने बड़े ठंढे जी से यह भेंट स्वीकार की। उसके हृदय में भी बाबाजी की भक्ति जागृत होने लगी। ईश्वरी ने रुख पाकर प्रभु की प्रशंसा की। गोमती ने उसे सर्वथा तो नहीं माना, तो भी कभी-कभी हां-हां करती रही।

बहुत काल के बाद आज ईश्वरीप्रसाद का दिन इतनी शान्ति से बीता था।

❀ ❀ ❀

दस दिन बाद बाबाजी फिर आ उपस्थित हुए। इस बार कहीं से एक बड़ा-सा चीमटा भी लेते आये थे। इस बार गोमती ने भी उनका कुछ आदर-भाव किया। उन्होंने उसके सामने ईश्वरी की तनिक भी भर्त्सना न की। उसे नारी-धर्म का उपदेश देते रहे। उनके व्याख्यान का ढँग, बातों की लड़ी और शान्त मुद्रा बड़ी प्रभावशालिनी थी। गोमती पर उनका बड़ा असर हुआ। कौन कह सकता था कि यह उस रात के महापुरुष हैं! अन्त में उन्होंने कहा—"माता आजकल के साधु-बैरागियों से सदा बचती रहना। इसी में कल्याण है। देखो, इस वेश में बड़े-बड़े भयानक लोग रहते हैं। एक तो मैं ही बड़ा भारी पाखण्डी तुम्हारे सामने बैठा हूँ। आज तुम्हारे यहां चोरी करने आया हूँ, ईश्वरी को मैं बार-बार चिताता चला आया हूँ। पर यह रसायन के फेर में पड़ा है। भला सच्चा रसायनी आज तक किसी को मिला है—"दौलत खोइ कीमिया सीखी, रही खाक-भर मूंठी।' आज तुमसे भी कहता हूँ, देखो मुझे अभी यहां से निकाल बाहर करो या पुलिस के सुपुर्द करो, नहीं तो तुम लोगों का भविष्य अंधकारमय हो जायगा। समझा बेटी। अच्छा अब जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"

गोमती को इन अन्तिम वाक्यों से बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—"महाराज, आप यह क्या कहते हैं? कैसी अनहोनी बात है! फिर आप चोरी भी करेंगे तो हमारे भले ही के लिए। अच्छा जाती हूँ—डंडवत।"

स्वामीजी के इन वाक्यों से उस पर उनका और भी आतंक छा गया था। उसने देहली के बाहर निकल कर पति से कहा—"अरे, ये तो बड़े महात्मा हैं। चोरी वगैरह सिर्फ छिपे रहने के लिये करते हैं। इसी तरह भक्तों को परखते हैं। अब हम लोगों के अच्छे दिन आये........"

❀ ❀ ❀

बाबाजी ने जो कहा था, वही किया। पर गोमती को यह स्पष्टतया न मालूम था कि उनका इशारा तिजोरी की ओर था। ईश्वरी को भी सारी कथा सुनाने की हिम्मत न पड़ी थी।

अस्तु, सबेरे उठकर उसने तिजोरी खुली हुई पाई। वह इतनी साफ़ कर दी गई थी मानों झाड़ू लगा दिया गया हो।

वह एक बार 'राम' कहकर बैठ गई। फिर आप-ही-आप बोल उठी—"मैं तो ऐसा न समझती थी, बड़ा धोखा खाया।"

कन्या रेवती वहीं खेल रही थी। उससे उसने ईश्वरीप्रसाद को बुलवाया। आकर जब वह विस्फारित लोचन से तिजोरी की ओर देख रहा था, तब वह बोली—"देखते क्या हो, तुम्हारी बदौलत यह सब हुआ। घर का गया सो गया औरों की रेहन रक्खी चीजें भी तो थीं।"

"तो क्या तुम समझती हो कि वह चोरी करके चले गये? मुझे तो निश्चय है कि जितना गया है, उसका चौगुना छोड़ गए होंगे। बिना देखे कुछ न कहना। अच्छा सब मिला कर गया कितना?"

"रेहन का हिसाब तो तुम जानो । मेरे २-३ हज़ार के गहने थे और थैली में ग्यारह सौ दो थे।"

"अच्छा पहले बाबाजी की कोठरी तो झाड़ लें, फिर हिसाब लगावेंगे । मुझे दृढ़ निश्चय है कि इस बार मेरे भाग्य ने पलटा खाया है।"

"चलो मैं भी चलती हूँ।

चार सौ नगद पाकर, फिर बाबाजी का उपदेश सुनकर गोमती को उन पर श्रद्धा हो उठी थी। नहीं तो यह सफ़ाया देखकर न जाने उसकी क्या गति होती और न जाने पति की वह क्या गति करती।

स्वामीजी की कोठरी पूरा नरक-कुण्ड हो रही थी। बदबू और गन्दगी के मारे पास जाना भी कठिन था। एक ओर गन्दी फूटी चिलम पड़ी थी, पास ही गांजे के जट्ठे का ढेर लगा हुआ था। उसके इधर-उधर जगह-जगह थूक-खखार पड़ा हुआ था। पत्तल और दोने में पूरी-मिठाई के टुकड़ों पर मक्खी और चींटे जोर-शोर से आक्रमण कर रहे थे। पास ही उलटी फैली हुई थी । और उससे कुछ ही दूर पर,. बस, अब आगे न पूछिये---

दम्पति ने किसी तरह प्रवेश करके देखा कि एक कोने में चुनकर दस-पन्द्रह उपले रक्खे हुए हैं। गोमती ने जल्दी-जल्दी उन्हें टालना शुरू किया। एँ! यह क्या, उनके नीचे सोने की चमकती हुई नौ कामियां देखकर वह अवाक् रह गई। ईश्वरी का आनन्द भी असीम था। उन्हें अपने आंचल में समेट कर गोमती बाहर हुई। वहां ठहरना असम्भव था। दिमाग फटा जाता था। बाहर आंगन में वह रोती-रोती पति के पैरों पर गिर पड़ी। बोली---"नाथ, क्षमा करो। मैं बड़ी पापिन हूँ। इसी सोने के पीछे मरती थी। इसी के पीछे तुम्हें लाखों सुनाती थी। मैं जो इतनी गिरस्त बन कर और हाय-हाय करके दस बरस में न बटोर

सकी, वह तुमने---जिसे मैं निखट्टू समझती थी---चार महीने म बटोर दिया। भगवान्, स्वामीजी की चोरी करने की बारी रोज-रोज आती रहे।

"अच्छा, हिसाब तो लगाओ कि यह कितने का माल है और कुल-दे-दिलाकर हम लोगों को कितना बचेगा ?"

बारह-सौ रेहनदारों से लहना था। उनका २०००) का माल था। अतः उन्हें ८००) और देना था। संभवतः १००)-२००) और देने पड़ते। ग्यारह-सौ नगद और ज्यादा-से-ज्यादा तीन हज़ार के गहने गए थे। इस प्रकार कोई ६०००) की हानि थी और ६०००) का सोना था। प्रत्येक कामी एक हज़ार की थी।

उसी दिन तीसरे पहर ईश्वरी ने अपने कई ऋणियों से कह दिया कि एक विशेष कारण-वश मैं तुम्हारी चीज़ें नहीं फेर सकता, तुम हिसाब करके मुझसे रूपये ले लो। फिर वह दो कामी लेकर सर्राफे में बेंचने चला। एक सर्राफ ने उसे अच्छी तरह कस-कसा कर २२॥) तोले का दाम लगाया। पर जब तौलने की बारी आई तब उसने उन्हें अगले दिन लाने को कहा---"बाबूजी, कुल रूपया आज नहीं दे सकता, इसलिए कल आइये। आज महाजन के यहां जाना पड़ेगा। कल भुगतान होगा।"

"अच्छा मैं कब आऊँ ?"

"इसी वक्त समझिए।"

५

दूसरे दिन यथा समय ईश्वरी वहां पहुँचा। सर्राफ़ के यहां महाजन भी मौजूद थे। सोने की तौल हुई। पुर्जा बनाया गया। १६६७॥=) का माल ठहरा। अब रूपया चुकाने की बारी आई। सर्राफ़ अपने महाजन

से बोला—"सरकार, आप माल रखके इन्हें रूपया दे दीजिए; हम जैसे-जैसे काम पड़ेगा, आपसे लेते जायँगे । रूपये जमा कराते जायँगे।"

"आओ भाई इधर"—महाजन ने ईश्वरी से कहा। ईश्वरी बाबू साह्लाद सरक कर उनके पास पहुँच गये । उन्होंने कहा—"हजरत, आप गिरफ्तार किये गये। हम पुलिस के आदमी हैं। हर्ष का विषय है कि आप चार ही दिनों के भीतर पकड़ लिये गए।......आज से चार दिन पहिले ही आप लखनऊ के एक सर्राफ़ की आंख में धूल झोंक चुके हैं—इतनी जल्दी कानपुर में यह कार्रवाई—वाह रे हिम्मत! लेकिन बचा, तुम छटे शातिर नहीं हो। कामी पर सोना चढ़ाने चले तो इतना पतला कि कसते ही तांबा दीखने लगे! क्या कानपुर के लोगों को अन्धा समझ रक्खा है? सरकारी राज में यह अन्धेर! लखनऊ से जो हुलिया है वह तो तुमसे नहीं मिलती, पर तुम-जैसे बदमाश को रूप बदलते कुछ लगता है। लो, अपने कड़े पहनो।"

वह छद्मवेशी जमादार बेचारे निस्पन्द ईश्वरी को हथकड़ी पहनाने लगा।

गल्प-लेखक

"अमीरों को अपने गद्दी-मसनद से फुर्सत नहीं। गरीबों को अपने पेट पालने की हाय-हाय से फुर्सत नहीं। रहे मध्यवित्त लोग, उन बेचारों की तो सबसे बुरी गति है। लाज के मारे किसी से कुछ कह नहीं सकते, सो उन्हें मुंह बन्द किये-किये मरने से फुर्सत नहीं। अब काम करे तो कौन? हमारा साहित्य पिछड़ा चला जा रहा है! देखो, कल कल के साहित्य उन्नत हुए चले जाते हैं। हमारी हिन्दी पचासों बरस पिछड़ी है। इतनी बड़ी भाषा में गल्प की एक पुस्तक नहीं। लज्जा की बात है! लज्जा नहीं, धिक्कार की बात है!!"

कृपाशंकर अपनी बैठक में छोटी-सी गाव-तकिये के सहारे लेटे हुए जब मुश्की खमीरे के कश से कमरे को सुवासित करने लगते, तब यही विचारा करते। कह नहीं सकते कि इन उच्च विचारों की जननी तम्बाकू की उत्तेजना थी या उनकी प्रतिभा की स्फूर्ति। जो हो, वे यहीं न रुकते—

"अच्छा, यह कमी पूरी की जायगी। मैं हिन्दी का यकला गल्प-लेखक होऊँगा। मेरे पास, न कम न ज्यादा, यथोचित धन है। मुफ्त का समय है, और काफ़ी योग्यता है। मेरी स्थिति वालों में से कितने एम० ए० तक पढ़े हैं—मेरी समझ में तो इने ही गिने मिलेंगे। निःसन्देह भगवान् को मेरे हाथों यह काम कराना है, तभी तो हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई है। अच्छा, शुभस्य शीघ्रम्। आज ही काम शुरू कर देना चाहिए। अभी तुरन्त। किन्तु टकही लेखनी से काम नहीं चलेगा। चाहे जन्म-भर में एक ही गल्प लिखी जाय, पर वह ऐसी हो कि मेरा ही

नहीं, मेरे साथ हिन्दी-साहित्य का नाम भी अमर हो जाय। भविष्य में यदि उसका सब कुछ नष्ट हो जाय और एक यही आख्यायिका बच रहे तो उसके पढ़ने के लिए लोग हिन्दी सीखें। दुनिया-भर की भाषाओं में उसके अनुवाद निकलें। यही नहीं, यदि किसी दिन और ग्रह-मण्डलों से सम्बन्ध हो जाय, तो यहां के निवासी वहां वालों के लिए इसे बौद्धिक तोहफ़ा (Intelectual present) बना कर भेजें। यह असम्भव नहीं है। कितने ही चित्रकार एक चित्र के कारण जगत्-प्रसिद्ध हो गए हैं। कितने कवि एक दोहा लिख कर स्वर्ग में अनन्त काल लों विहार करेंगे। मनुष्य क्या नहीं कर सकता। परन्तु यह बात सहज नहीं। बहुत श्रमसाध्य है। फिर नहीं तो क्या, तपश्चर्या के बाद सिद्धि मिलती है। तब? परिश्रम होना चाहिए। आज ही से इस काम में जी-जान से लगना चाहिए। अच्छा, काम का ढंग क्या हो? पहले तो देशी-विदेशी तमाम साहित्यों के सर्वोच्च गल्पों का संग्रह करना होगा, उनका अध्ययन और मनन, करना होगा; तब उनकी खूबियां एक कापी पर नोट करनी होंगी। इन सब खूबियों को एकत्र करके अपनी एक नई शैली निकालनी होगी। इसके लिए विविध भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही प्लाट का इंतजाम भी अभी से होना चाहिए। बिलकुल अछूता प्लाट होना चाहिए। घटना साधारण न हो, खूब पेचीदी हो, ऐसी हो कि आजतक किसी लेखक की कल्पना में न आई हो। इतने पर भी यदि सच्ची हो तो क्या बात। घटना देशी हो। अपने प्रान्त—अपने नगर की हो तो और भी अच्छा। प्रत्येक साहित्यिक अपने समाज का चित्र अंकित करने में सबसे ज्यादा सफल होता है। इसी नगर की बात न मिल सके, तो प्रान्त ही की सही।

इसके लिए अखबारों की फाइल उलटनी होगी। उनमें से बातें टाँकने के लिए भी एक अलग कापी चाहिए। एक नहीं, तो कई घटनायें मिलाकर

एक नई घटना की कल्पना कर ली जायगी। साथ-ही-साथ टोले-महल्ले के बड़े-बूढ़ों से मदद लेनी चाहिए। मित्रों की सहायता भी आवश्यक है। इन लोगों से घटना सुन कर उन्हें भी नोट करूँगा। अच्छा तो यह होता कि पत्रों में विज्ञापन भी दे देता। तो, मजमून क्या हो? आजकल रूपये का जमाना है, पहिली लाइन में लिखा रहे—"इनाम! १००) इनाम!!' तब,—'जो महाशय मेरे पास एक छोटी-सी गल्प लिखने के लिए सर्वोत्तम सच्चा प्लाट भेजेंगे, उन्हें यह इनाम दिया जायगा। उत्तमता की जांच विज्ञापनदाता के हाथ में रहेगी। विचार ३० मार्च को होगा, अतः घटनायें रजिस्ट्री से मेरे पास २५ मार्च तक पहुँच जानी चाहिए। जो घटनायें इसके बाद आयेंगी उन पर विचार न किया जायगा।' अच्छा, यह विज्ञापन कितने दिनों तक किन पत्रों में छपना चाहिए? भला कम से कम दो सप्ताह तक तो, और, प्रान्त-भर के सभी पत्रों में। लेकिन इसमें तो बड़े रूपये बिलट जायँगे। नहीं, एक उपाय है। प्रेरित पत्र क्यों न भेजें? मुझे कोई रोजगार थोड़े करना है, जो विज्ञापन दूं। सब खुशी से वह पत्र छाप देंगे। यदि किसी ने लौटाया तो,.........। तब देखा जायगा, उसके पत्र में विज्ञापन रूप में छाप देंगे। यह सब तो ठीक है। ......अरे, इस उधेड़-बुन में मेरी तम्बाकू ही जल गई। हटाओ जी, कहां के चर्खे में मैं पड़ा हुआ हूँ! कौन लिखता है!" —सटक-पटक कर कृपाशंकर फर्श पर लम्बे हो गए।

२

दूसरे दिन फिर यथासमय वे ही विचार उपस्थित हुए। महीनों जब यही सिलसिला रहा, तब उन्होंने सोचा कि, ये बिना कार्य्यरूप में परिणत हुए मेरा पीछा न छोड़ेंगे। अतएव अब एक स्कीम बना कर काम शुरू ही कर देना चाहिए और इसमें तो अपनी ही भलाई है। 'कीर्त्तिर्यस्य

स जीवति।' किसी मित्र से पूछ लेना चाहिए; 'सात-पांच मिल कीजे काज, हारे जीते कछु नहिं लाज।'

"तो पहले स्कीम बना कर तब उस पर वाद-विवाद करना वा पहले ही कुछ आभास देकर बहस की रेत से उसे मांज कर तब स्कीम बनाना? देखा जायगा जी,"—आज का तमाशा यहीं खत्म हुआ।

अब पन्द्रह दिन बाद देखते हैं तो स्कीम की पांडुलिपि तैयार है। धड़ाधड़ पुस्तकों के आर्डर जा रहे हैं, और उनके आने की बाट बड़ी उत्सुकता से देखी जा रही है। डाक के समय के घण्टों पहले कृपाशंकर बेकल हो जाते, बार-बार आहट लेते, जँगलेदार दरवाजे से झांकते, और कभी-कभी बेचैनी के मारे कमरे में टहलने लगते। क्रमशः बी० पी० आने लगे। अक्सर मित्र-मण्डली से परामर्श हुआ करता है। बँगला, गुजराती, मराठी सीखी जा रही है। योरोप की भाषायें सीखने की ज़रूरत न पड़ेगी क्योंकि The Library of the world Fiction (अर्थात्—संसार-गल्प का भण्डार) नामक ग्रन्थमालिका १५०) में आ गई है। इसमें सब वांछित सामग्री मिल जायगी।

रजिस्टर भी बन गए। उनमें खूबियों का और प्लाटों का आनुक्रमिक संग्रह होने लगा। इसके सिवा एक नोट बुक भी थी, वह सबसे महत्त्व की थी, क्योंकि उसमें इन दोनों का निचोड़ लिखा जाता। भावी साहित्य उसी में से अंकुरित होगा। इन कामों की नफ़ासत में वे वर्तमान तरीकों से भी एक पग आगे बढ़ गए थे।

एक दिन विचारों ने कृपाशंकर को लगातार इतना सताया कि उन्हें मालूम हुआ, अब पागल होने में देर नहीं। उसी के दूसरे दिन उन्होंने सोचा कि अब लिखना प्रारम्भ करने का समय आ गया। जो विशेषातायें मैं चाहता था, मुझमें उत्पन्न हो चुकी हैं। नहीं तो विचारों की यह लहर

न आती । अब प्लाट मिलने की देर है । प्ररित पत्र भेजे गए, और नगर में विज्ञापन बांटा गया । कई मित्रों ने ढिंढोरा पिटवाने की सलाह दी, पर कृपाशंकर ने यह निश्चय किया कि यदि विज्ञापनों से काम न हुआ तो वह भी किया जायगा । जान-पहचान वालों और अड़ोसी-पड़ोसियों से भी आग्रह-पूर्वक कहना वे न भूले थे ।

सप्ताह के भीतर ही प्रेरित पत्र प्रकाशित हो गए । एक भी ऐसा सामयिक पत्र न था, जिसने उसे स्थान न दिया हो । और इसके दो ही चार दिन बाद उनके पास डाक-द्वारा अनेक घटनायें भी आने लगीं। कितने ही जान-पहचानी तथा नगर के अपरिचित लोग आ-आ कर भी घटनायें लिखा जाने लगे । लेकिन अफसोस, आज तक उन्हें ऐसी कोई बात न मिली थी, जिस पर वे अपनी शक्ति आजमाते ।

इसके कई दिन बाद उनके डाक के पुलिन्दे में एक ऐसा पत्र आया, जिसकी लिपि पहचानने पर भी वे न पहचान सकते थे। मालूम होता था कि लिखनेवाले ने जान-बूझ कर अक्षर बिगाड़े हैं। पर इतने ही बिगाड़े हैं कि कृपाशंकर उसे जान न सकें, तो भी यह जान लें कि उनके किसी परिचित की ही लिखावट है।

उसने शुरू में आपके उत्साह, अध्यवसाय तथा यह बिलकुल नया एवं समयोचित काम उठाने की भूरि-भूरि प्रशंसा करके लिखा था--

'लीजिये मैं आपको एक बहुत अच्छा प्लाट बताता हूँ। आप जो-जो विशेताएँ चाहते हैं, वे सब इसमें हुई हैं, साथ ही सबसे बड़ी बात यह है कि घटना बिलकुल टटकी है । कल, आज वा अभी की ही नहीं है, बल्कि ऐसी है कि जिस समय आप यह पत्र पढ़ रहे हैं, वह घटित हो रही है । यदि आप अभी अपनी प्रतिभा-पूर्ण लेखनी उठा कर उसे साहित्यिक रूप देंगे तो निस्संदेह आपको वह विमल और अचल कीर्ति

मिलेगी, जिसका मनोरम स्वप्न आपका मन देख रहा है।'---इतना पढ़ कर आनन्द के मारे उनका हृदय जोरों में उछलने लगा। आगे लिखा था---

'लीजिये, सुनिये और साथ ही अपनी कलम उठाकर साहित्यकार बनिये। नन्दन-कानन में कालिदास, शेक्सपियर इत्यादि-इत्यादि के साथ बिहार कीजिये।' प्रभूत साहित्यकारों के नाम की एक लम्बी तालिका दी गई थी। इसके बाद लाल रोशनाई से घटना का शीर्षक देकर पत्र-लेखक ने जो कुछ लिखा था, उसे न लिखने की इच्छा होने पर भी, बाध्य होकर हमें यहां लिखना ही पड़ता है---

'लेखक-प्रवर, मैं घटना को बहुत विस्तार से लिखकर न तो आपकी कल्पना का कुछ अंश हड़पना चाहता हूँ, और न आपके कलम उठाने में देर कराने का पापभागी बनना चाहता हूँ, इसलिए सूत्ररूप में उसे सुन लीजिये---एक नगर में एक मध्यवित्त आदमी रहते हैं। पढ़े-लिखे हैं, मुफ्त का समय है। काम कुछ नहीं करते; अतः शैतान ने उन पर आधिपत्य जमाया। शैतान हमेशा योग्य पात्र खोजता है। उनके मन में उसने लेखक बनने की भावना उत्पन्न की। वे चक्कर में आ गए। गल्प-लेखक बनने के पीछे करीब-करीब पागलों-जैसे काम करने लगे। सैकड़ों रूपये सामग्री-संग्रह करने में फूंक दिये। कथानक के लिए लालायित हो उठे। जिनका मुंह नहीं देखना, उनकी जूती तक उठाने को तैयार हुए। उनकी यह दशा देख एक मित्र को दया आई। उसने समझा कि अपने गल्प के लिए सबसे अच्छे और करुणा-जनक पात्र वे ही हो सकते हैं। पत्र-द्वारा उन्हें इसकी सूचना दी। पर शैतान उन्हें यह राह की बात मानने देता तब तो! वे इस नेक सलाह से जल-भुन कर कबाब हो उठे। उनका जो हाल हुआ, वह मैं क्या लिखूं, आप उसे स्वयं झेल रहे हैं। उठाइये कलम। बस, राम राम।'

कृपाशंकर के खयाली पोलाव की हांड़ी फूट गई। मारे क्रोध के वे कांपने लगे; दांत पीसने लगे । उन्हें जिन विचारों ने सता-सताकर आज उनकी यह दुर्गति कराई थी, यदि वे कहीं मिल जाते तो मारे बेंतों के उनका धुर्रा निकाल डालते। उनका खून कर डालते । गला घोंट-घोंट कर उन्हें मारते । और यदि इस पत्र के लेखक को पाते तो कम-से-कम उसके सारे मुंह पर रोशनाई अवश्य पोत देते, और वे अपने मुंह पर हाथ फेर उठे। साथ ही उन्हें ठंढा-ठंढा मालूम हुआ, कहीं तब उन्हें ज्ञान हुआ कि क्रोध से पागल होने के साथ ही अन्धे भी होकर उन्होंने दावात से रोशनाई निकाल कर अपने ही मुंह पर पोत ली थी !

इसी समय उस कमरे में आने के लिए कई आदमियों के सीढ़ी चढ़ने की आवाज सुन पड़ी ।

दिनों का फेर

कई मांझी गीले जाल ओढ़े, सिर पर, गीली धोती की गेंडुरी के ऊपर मछलियों की झांपी रक्खे, अपने-अपने घर लौट रहे थे । यद्यपि वे हिंसा करके आ रहे थे, तो भी स्नान की पवित्रता उन पर झलक रही थी।

खटीक अपने खाली टोकरे सिर पर औंधाये, कान में एक फालतू पैसा खोंसे सट्टी से फिरे आ रहे थे। कुछ मज़दूर काम से छुट्टी पाकर धूलिया राक्षस से आदमी बनने की फ़िक्र में नदी की ओर चले जा रहे थे।

दोपहरी का सन्नाटा फैला हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि सूर्य का रथ विश्राम कर रहा है । प्राचीनों की यह कल्पना कितनी मार्मिक है। चाहे विज्ञान की आधिभौतिक दृष्टि में इस कल्पना की आत्मा देखने की शक्ति न हो तो भी इसकी यथार्थता पर संदेह नहीं किया जा सकता।

इस सन्नाटे को कौवे का कर्कश-रव बीच-बीच में भंग कर देता था। सड़क पर दो दरिद्र चले जा रहे थे । वे पति-पत्नी जान पड़ते थे। आगे-आगे एक बूढ़ा आदमी था। अन्न-बिना उसकी देह जर्जरित हो रही थी और विश्राम के बिना तथा चिन्ता के मारे उसकी आत्मा की व्याकुलता उसके मुंह पर झलक रही थी। उसके वस्त्र और झोली, मैलेपन में बढ़ी-चढ़ी थी या थेगलियों में, यह निर्णय करना कठिन काम है। इसके पीछे एक बुढ़िया थी। वह अन्धी थी और बूढ़े के कन्धे का सहारा लेकर चल रही थी। उसके वस्त्र पुरानेपन से ज्यादा फटे थे या मैल से, यह भी एक कठिन समस्या है। उसके मुंह पर अजब हसरत छाई हुई

थी। किसी समय दोनों बड़े सुन्दर रहे होंगे। धूप और धूल से विवर्ण गेहुँआ रँग, उन्नत ललाट, नाक की उठी हड्डियां इस बात के साक्षी थे। किन्तु आज?—अवस्था ने उन पर उतना अत्याचार नहीं किया है जितना उनकी आपदाओं ने।

कुछ ही दूरी पर, सड़क के किनारे, घरकारों के कई कच्चे घर थे। वे लोग घर के आगे बैठे आधा काम कर रहे थे, आधा विश्राम। एक तम्बाकू पी रहा था। अकिञ्चन ने वहां पहुँचकर दीनता से उससे कहा—"बाबा, जरा तम्बाकू पिला दे।"

"आओ साईं, बैठ जाओ"—निमंत्रण में आग्रह था।

दोनों बैठ गये। घरकार ने बूढ़े के हाथ में चिलम दे दी, वह उसे पीता हुआ सुस्ताने लगा।

अंधी ने पूछा—"कहां पहुँचे?"

"नये बाजार।"

"अच्छा, कहीं फिर चौहट्टे न चले चलना।"

घरकार ने उत्सुकता से पूछा—"माई, ऐसा क्यों?"

"बेटा, पूछकर क्या करेगा?" अंधी मानों दरिद्र का मुंह देख रही थी।

"साईं, बताने लायक हो तो बताइये न।"

"बेटा, अब लाज काहे की। लेकिन बड़ा बखत लगेगा। तुम कारीगर आदमी ठहरे, तुम्हारा समय खराब होगा।"

"नहीं बाबा, आज हम लोगों के पास गांहक का कोई काम नहीं है। खाली बैठे की बेगार कर रहे हैं।"

"अच्छा बेटा, तो सुना देंगे।" दीन ने लम्बी सांस लेकर कहा।

एक दूसरे घरकार ने कहा--"आज साईं जी को यहीं टिका लें। इनकी सेवा-टहल का इन्तजाम करो हो, जगबन्धन।"

आतिथ्य भारतीय सभ्यता की एक प्रधान विशेषता है। साईं के लिए सामान होने लगा। एक फटी-सी दरी बिछा दी गई। एक आदमी हाथ-पांव धोने को पानी ले आया। दो स्त्रियां अहरा लगाने का प्रबन्ध करने लगीं। जब तक भोजन नहीं बनता, तब तक जलपान के लिए एक युवती थोड़े भाड़ के भुने चने ले आई। बूढ़ा-बूढ़ी स्वाद से उन्हें चबाने लगे। जब पानी पी चुके, पुरुष को जगबन्धन ने चिलम दी। बूढ़ा देर तक उसे पीता रहा।

"दूसरी भर दें?"--उस चिलम के जल जाने पर सोमारू ने पूछा।

"अच्छा, बेटा।"

दूसरी चिलम साफ़ करके बूढ़ा बोला--"अब जी ठिकाने हुआ।" इस वाक्य से कृतज्ञता छलकी पड़ती थी। बूढ़ी लेटी हुई थी।

"अच्छा साईं, अब सुनाओगे?"

बूढ़ा चुप रहा। सब लोग उसके चारों ओर जुट गये। जिस प्रकार रात को लड़के नानी की कहानी सुनने के लिए उसको चारों ओर से घेर लेते हैं, उसी तरह।

उपले निर्धूम हो चुके थे। उन पर दाल चढ़ाकर और बाटियां लगाकर स्त्रियां भी वहीं आ जमीं। कुछ दूर कुछ बालक खेल रहे थे। उन्हें इस समाज, खास कर बुड्ढे-बुड्ढी के रूप, को देखकर कुतूहल तो अवश्य होता था, वे इस ओर इंगित करके जोर से हँस भी रहे थे, पर यह किस्सा सुनने की उनकी रुचि न थी।

सब श्रोताओं के एकत्र होने पर कतवारू ने कहा---हां, साईं जी।"

साईं ने एक दीर्घ निःश्वास-पूर्वक कहा---"बेटा, चौहट्टे में पत्थर की हवेली जानते हो न ?"

सभों ने कहा---"हां बाबा, भला सहर में ऐसा कौन है जो उसे न जानता हो।"

"साईं, अभी तो कल ही मैं वहां कई-ठो मोंढे बेंच आया हूँ। एक-ठो बड़ा अमीर-दिल बाबू उसमें रहता है। वही कोठी न, जिसके भीतर नीम का बड़ा-सा पेड़ है ?"---जगबन्धन ने पूछा।

"हां, बेटा, वही कोठी। एक दिन..........."

अचानक लेटी हुई बुढ़िया बैठकर दीनता से बिलखने लगी। उसने बार-बार जमीन पर सिर रखकर करुणा-पूर्वक उस समाज से याचना की---

"मैं तुम लोगों से यही भीख मांगती हूँ कि इसके आगे न पूछो।"

भय का भूत

१

बिना दीप का कच्चा घर था। एक टूटी खाट थी। और?—दो व्यक्ति और थे। एक मृत और दूसरा शोक से मृत-तुल्य।

शव खाट पर पड़ा था। रोनेवाली उसकी चाची थी। मृतक का नाम रामगोपाल था। उसने अभी पन्द्रहवें वर्ष में पदार्पण किया था। तीन दिन इन्फ्लुएंजा भोगकर बिना कोई दवा पाये उसने कष्ट से मुक्ति पाई थी; अपनी चाची सुखरानी के कातर-नयनों के सामने प्राण त्यागे थे।

सुखरानी किसी तरह उसकी नाक के पास हाथ ले गई, पर सांस न चलती थी। पलक खोलकर देखा, पुतली निश्चल थी, निष्प्रभ थी। छाती पर हाथ रक्खा, वहां भी धड़कन न थी। देह ठंढी हो चुकी थी।

चारों ओर अंधकार था। आकाश पर मेघ की खोल चढ़ी थी। सुखरानी रोती थी। उसका रोना झिल्ली और मेंढकों के रव में विलीन हो जाता था। घर का द्वार खुला था, उसमें से बौछार आती थी। कभी-कभी बिजली चमकने पर एक क्षण के लिए वह अपने प्रिय भतीजे का मुंह देख लेती और पछाड़ खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़ती।

धीरे-धीरे उसके सामने उसके जेठ-जिठानी, पति, एकलौते पुत्र, सबों की मृत्यु के दृश्य बायस्कोप की भांति घूमने लगे। शोक भय में परिवर्तित होने लगा। उसे जान पड़ने लगा कि सब रामगोपाल के चारों ओर बैठे हुए उससे बातें कर रहे हैं। वह कांप उठी।

उस अंधकार में भी उसे दीख पड़ने लगा और डर कर उसने आंखें बन्द कर लीं। इसी समय किसी ने कहा—"उँः" बिजली चमक उठी। शव ज्यों का त्यों पड़ा हुआ था। घर में कोई न था। सुखरानी फिर रोने लगी। फिर किसी ने कहा—"उँः" निश्चय वह ध्वनि शव के मुंह से निकली थी। उसमें बड़ी पीड़ा भरी थी। सुखरानी को जान पड़ा कि उसके मृतक कुटुम्बी रामगोपाल को पकड़ कर अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं और रामगोपाल अपने को छुड़ा रहा है।

सुखरानी चीख मार कर बेहोश हो गई। थोड़ी देर में उसे होश हुआ। शीतल पुरवा हवा उसके मुंह पर पंखा झल रही थी। उसका चित्त शान्त होगया था। इसी समय फिर बिजली चमकी।

चाची ने शव को फिर से देखा। अरे! उसने तो करवट ले ली थी! वह इस समय इसी की ओर मुंह किए हुए था। सुखरानी को मालूम हुआ कि उसकी आंखों से ज्वाला निकल रही है और उसी की ओर तेजी से आ रही है। वह फिर जोर से चिल्ला कर गिर पड़ी। वह मूर्छित होने लगी, साथ ही उसने सुना कि रामगोपाल पानी मांग रहा है।

फिर कुछ देर में मूर्छा दूर हुई। तब उसे साफ़-साफ़ मालूम हुआ कि भतीजा पानी मांग रहा है। उसने कातर स्वर से कहा—"चाची, जल्दी पानी दे, मैं इतनी देर तक न जाने क्या-क्या स्वप्न देख रहा था! डर के मारे बुरी गति थी। गले में कांटे पड़ गए हैं, ला दे पानी।"—आवाज बहुत क्षीण थी।

२

जिन लोगों में मृतक के फिर से जी उठने की कामना रहती है उनमें से बहुत कम लोग ऐसे निकलेंगे, जो यदि कहीं शव जी उठे तो आनन्दित

हों। ज्यादातर तो ऐसे ही होंगे जो भूत जान कर भाग खड़े होंगे। एकाध तो शायद मर भी जायँ। जो हो, सुखरानी में कदाचित् ऐसी कोई कामना न थी। क्योंकि वह पीहर और ससुराल के कितनों ही को मरते---और सदा के लिए मरते---देख चुकी थी। अनेक बार ऐसी कामनाएँ व्यर्थ हो चुकी थीं। अतः उसे न तो ऐसी कामना थी, न आशा ही।

शायद इसी से भतीजे की बातें सुन कर एक बार उसका डर भाग गया और उसमें पानी पिलाने की हिम्मत हो उठी। हाथ से टटोलते-टटोलते वह मिट्टी के घड़े के पास पहुँची और फूटे लोटे में पानी लाकर उसने रोगी के मुंह से लगाकर कहा--"बच्चा, पानी पी लो।" अनेक भावों के सम्मेलन से उसका हाथ कांप रहा था।

रोगी ने कष्ट से एक घूंट पानी गले में उतारा। एक तो अन्धकार, दूसरे क्षीणता, तीसरे सूखा गला, चौथे सुखरानी के कंप से लोटे की अस्थिरता, फिर रामगोपाल को कष्ट क्यों न होता।

तो भी इतने कंठ-सिञ्चन के उपरान्त उसने कुछ स्पष्ट स्वर से पूछा--"चाची, कांपती क्यों हो?"

दूसरे क्षण उसने चाची का हाथ पकड़ कर आग्रह-पूर्वक कहा--"चाची, बोलो।" इसी समय बिजली चमकी। सुखरानी ने देखा कि उसका रामगोपाल ज्यों का त्यों मरा पड़ा है, और उसके मुंह से पानी बह रहा है।

क्षणिक प्रकाश के बाद अन्धकार हो उठा। सुखरानी को मालूम हुआ कि उसकी कलाई फौलादी पंजे में पड़ी है जो उसे जोर से दबा रही है।

"अरे, खा लिया!"

इसके बाद उस अँधेरे घर में एक धमाका हुआ, फिर बिलकुल नीरवता। झिल्ली और दादुर-रव में दूनी कर्कशता जान पड़ने लगी।

३

दूसरे दिन गांव वालों ने उस घर में सुखरानी और रामगोपाल दोनों का शव पाया।

चाची पलँग के नीचे पड़ी हुई थी। उसकी आंखों के ढेंढ़र पलकों के बाहर निकल आये थे। नीचे की दन्तावली ऊपर के दांतों पर चढ़ी हुई थी। ओठ खुले हुए थे। उसकी दाहिनी मुट्ठी में मृत रामगोपाल की कलाई थी! और बायें हाथ के बढ़े नाखून कच्ची जमीन में धँसे हुए थे। मुंह से खून बहा था, जमीन पर उसका थक्का जम गया था।

नर-राक्षस

१

"लगाओ इस........को पचास जूते। पूरे पचास। एक ऊपर भले ही हो जाय, कम न हो।"

"दोहाई साहब कऽ। मर जाब। राम दोहाई, हम ई करम नाहीं कैली[1]।"

"कल्लूबेग! मुंह क्या देखते हो? धड़काओ।"

जूते पड़ने लगे। निहोर पासी दो ही चार जूते खाकर तिलमिला उठा। दोहाई-तिहाई देता हुआ, ढाड़ें मार-मार कर रोने लगा। बीस-पच्चीस पहुँचते-पहुँचते उसका सिर लहूलुहान हो उठा। और वह बिलबिला कर जमीन पर लुढ़क पड़ा।

दारोगा मुनव्वर अहमद, अपने थाने के आगे दर्बार जमाये हुए गुड़गुड़ी पी रहे थे। उनके मुखमण्डल पर यह सब देखते हुए भी ज़रा शिकन न आई थी। यह तो नित्य-कर्म था। पास बैठे हुए साफ़ा बांधे हुए एक अर्ध-देहाती-वेशधारी व्यक्ति से बोले—

"ठाकुर साहब, अब आप जाइये। मैं इससे कुबूल करा लूंगा। जरूर इसी का काम है। मैं तो सूरत ही से ताड़ गया था।"

१—दोहाई साहब की। मर जाऊँगा। राम की शपथ, हमने यह काम नहीं किया।

ठाकुर साहब ने हाथ बांधकर कहा--"जो, होजूर, का होकुम" और फर्शी सलाम करके चलते हुए। उनके कई हाली मवाली भी सलाम कर-करके उनके संग लगे। दारोगा जी का दरबार विरल हो गया।

ठाकुर साहब सेमना के बड़े भारी ज़मींदार हैं। यह थाना उन्हीं की ज़मींदारी में है। पुरानी धाक अभी तक चली आती है, पर वही--धोबियों, काछियों, चमारों और पासियों पर। तथापि वह ठाकुर साहब की प्रिय वस्तु है। इस बदलते हुए ज़माने में भी उसे खोना नहीं चाहते। अनुचित अधिकार कोई स्वयं नहीं छोड़ता। अधिकृत लोगों ने ही अधिकारियों को किसी दिन उसका भागी बनाया था। वे ही फिर से उसे छीनें तो छीनें। पराये की वस्तु पर कब्जा-मुखालिफ़ाना कौन नहीं करना चाहता ?

ठाकुर साहब दरबारियों-सहित ओझल हो गये। तब दारोगा की ज़बान खुली--"कल्लूबेग, मुंह क्या देख रहे हो ? बेचारे के सिर से तर-तर ख़ून बह रहा है। पन-कपड़ा तो बांध दो। किसी हिन्दू से कह दो, पानी पिला दे और तुम इसे पंखा कर दो।"

बेचारा निहोर क्षीण स्वर से कराह रहा था। दारोगा की बातें उसके लिए बिलकुल अतर्कित थीं। वह सोचने लगा--कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। किन्तु जब आदमी इतना सोच सकता है, तब वह स्वप्न नहीं देखता। उपचार होने पर जब वह स्वस्थ हुआ, तब दारोगा जी सहानुभूति-पूर्वक कहने लगे--"देख बे, निहोरवा, मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि तू मुलज़िम नहीं है। पन्द्रह बरस से थानेदारी करते-करते क्या बदमाश और असराफ़ पहिचानने की निगाह भी न होगी ? लेकिन, तुझ पर मामला संगीन है। ठाकुर के आगे तुझे गवाह कहाँ मिल सकते हैं ? वह 'मौके के' पचास गवाह दे देगा।"

"बाबू से तो समझतथई।[1]"

"अरे भई, समझता है तो जान बचाने की फिक्र कर। देख उसी वक्त ठाकुर तेरे संग आगये, इससे लाचार होकर तुझे पिटवाना पड़ा। मैं बे-कुसूरों को पिटवाना बड़ा आजाब समझता हूँ और उनको आह की आंच से हमेशा डरता हूँ? पर करता क्या? इसी तरह अगर वह बराबर पैरवी करता रहा, तो मेरा कुछ न चलेगा। जानता है, साहब-सूबा, कलक्टर, कमिश्नर, सब जगह उसकी पहुँच है। ज़रा-सा आग लगा दे, मैं नौकरी से भी हाथ धोऊँ।"

"से मालिक, का करीं? हमार गोहार तऽ भगवानै सुनी। ओही बचाई। हमरे अवर कवन बल बा[2]?"

दारोगा साहब जरा गर्म पड़े—"अबे, यहां भगवान्-सगवान् की कुछ नहीं चलती। पहले तो बरस-छः महीने को लद जायगा। खेत-बारी टूट जायँगे। घर-बैल नीलाम हो जायँगे। तेरे परानी[3] कौड़ी के तीन हो जायँगे। तब कहीं भगवान् तेरा इंसाफ़ करेंगे। देख, दुनियां के एक रोएँ बराबर इस जिले में मुकदमों को निबटाते तो बरसों लग जाते हैं। फिर जिसके इजलास में एक नहीं, लाखों दुनियां के माल, दीवानी, फ़ौजदारी, सभी तरह के मुकदमे हैं, उसके यहां क्या काम एक-दो दिन में हो सकता है?"

निहोर ने एक लम्बी सांस ली। सर्वस्वान्त का भयानक चित्र उसके सामने अतिरञ्जित रूप में खड़ा हो गया।

१—बाबू (मालिक) सो तो समझता हूँ। २—तो मालिक क्या करूँ? हमारी पुकार तो भगवान् ही सुनेगा? वही बचावेगा। हमें और कौन बल है? ३—कुटुम्बी।

दारोगा ने भी आनन्दोच्छ्वास लिया। उसके सामने भी एक चित्र खिंच गया।

"दोहाई साहब कऽ। अब तोहईं बचावऽ तऽ बचीं[1]।"—निहोर रोता-रोता बार-बार उनके आगे की रज माथे चढ़ाने लगा।

"अबे, हम न बचाना चाहते तो यह सब कहते क्यों? हम भी तो बाल-बच्चे वाले हैं! हमें भी तो अपनी खैर मनानी है और मालिक के आगे जवाब देना है! लेकिन ठाकुर को मनाना सहल काम नहीं है। उसके पीछे कई दिन खराब करना होगा। दूसरे, इत्तिला तो रामरूप तिवारी के नाम से है। वह साला एक पाजी है। कहेगा, बुराई लेने को तो हम थे, अब हमको क्या फ़ायदा होता है? ये चपरासी भी तो ऐसे मौकों की आस लगाये बैठे रहते हैं। देख, बेचारों ने कैसी खिदमत की है?"

बलिहारी इस खिदमत की!

दारोगाजी ने एक क्षण विश्राम करके, उन बातों को निहोर के दिल में घर कर लेने का अवसर देते हुए फिर शुरू किया—

"सुन बे, मैंने सब बातें सोच-समझकर यह तय किया है कि तू ११०) लाकर यहां रख। बस, तुझे साफ़ बचा लेना मेरा काम है। यह रकम तेरी हैसियत के मुवाफ़िक है। जा, अभी जा, ले आ; आज ही तुझे छोड़ दूं। तुझे रिहा कराने का सबाब लेकर तब सोने जाऊँ।"

"हाय बाप रे! अरे सरकार, पचीस ठे तो जुटाय नाहीं सकली। ठाकुर घोड़ी लेवे के बदे गांव भरे पर चन्दा लगउले रहलें, ओही के पीछे ई दुख भोगत हईं। जौन बाप दादन पर दोख नाहीं लगल, तेकरे

१—दोहाई साहब की। अब तुम्हीं बचाओ तो बचूं।

पीछे हम बांधल गइली। से ११०) कहां से जुटाई। सात जनमों में तऽ नाहीं जुट सकत। कौनौं महाजनौ तो न देई। दोहाई बाबू कऽ! मर जाव! ! दोहाई साहब कऽ[१] !!!"

"तो साले, मर। कल्लूबेग, ठूस दो साले को हव्स-कोठरी में। इन हरामियों पर रहम करने का भी कोई नतीजा है ? साला ११०) के बदले खुशी से २२०) खर्च करेगा और जेल की सैर भी करेगा। लेकिन अभी नहीं सूझती.........को। ले जाओ, एक दम।"

भू-नमित निहोर खींच कर खड़ा किया गया। उसने रुक कर कुछ कहना चाहा कि इस जोर की गरदनियां लगी कि वह मुंह-बल कुछ दूर पर जा गिरा। दांतों की जड़ें झन्ना उठीं, उन्होंने खून फेंक दिया।

२

ठाकुर साहब ने घोड़ी के नाम से हजारों काट कर घर में रख लिए। मसल है—लड़के के भाग से लड़कोरी जीती है। २५०) की घोड़ी आई। ११००) की वृद्धि खजाने में हुई। सब गांवों में चन्दा हुआ था। सब लोगों ने कुछ न कुछ दिया था। इने-गिने लोग बच रहे थे। कुछ असमर्थता के कारण, कुछ अन्य कारण-वश। निहोर इसी दूसरी श्रेणी में था।

१.........पचीस ठो तो जुटा नहीं सका। ठाकुर ने घोड़ी लेने के लिए गांव भर पर चंदा लगाया था, उसी के पीछे यह दुःख भोग रहा हूँ। जो बाप-दादों को दोष नहीं लगा, तिसके पीछे हमें बांधा गया। तो ११०) कहां से जुटाऊँ। सात जन्म में भी तो नहीं जुट सकता। कोई महाजन भी तो न देगा।...........

ठाकुर साहब ने निहोर पर २५) तसखीश किये थे । उसके बहुत कहने-सुनने पर भी एक पैसा भी कम न किया था। वह ७) तक देने को तैयार था। इतना भी उसके बित्त के बाहर था। परन्तु असल में पृथ्वीराज की निगाह उसके खेत पर थी। उनकी यही अभिलाषा थी कि साला एक बार कर्ज की खूनी डाढ़ों में फँसे तो! एक बार इन्दुल-तलब लिखाने का मौका तो मिले! खेद है कि यह नौबत न आई। निहोर को 'जी से बढ़ कर जीविका' का खयाल था।

किन्तु ठाकुर साहब को इन्दुल-तलब लिखाने से भी अच्छा अवसर मिला। लोगों से कहने लगे कि साले ने मेरी बड़ी बदरोबी की है। २५) में बहुत ठीक मांगता था, वह ५० दे सकता है। न देकर उसने बड़ी बदरोबी की है। आज एक ने ऐसा किया, कल देखादेखी और भी करेंगे। बस, बाप-दादों की बनाई सब बात ही एक दिन मिटटी में मिल जायगी। कोई हम लोगों को पूछेगा भी नहीं। एक दिन नीच जाति के लोग हम ऊँचों को आंख दिखाने लगेंगे। इनको दबाना होगा। चाटुकार हां में हां करके जलती आग में घी की आहुति देने लगे।

भारतवर्ष, तनिक बता तो, तेरी जन्म-कुंडली में कौन ऐसे ग्रह पड़े हैं कि तेरे निवासियों में, जिसे देखिए 'धाक' के पीछे मरा जाता है? जो चार दिन को जन-सेवक (Public-Servant) बनकर आता है वह भी इस संक्रामक रोग से नहीं बच पाता!

एक दिन सब ठीक करके प्रकृत मामला खड़ा किया गया—

रामरूप तिवारी के, सेंध लगा कर निहोर पासी ने तीन-चार सौ की चोरी की है। जब वह निकल भागना चाहता था, घर में जाग पड़ गई। वह पकड़ लिया गया। हो-हल्ले के कारण कई पड़ोसी भी वहां आ पहुँचे थे। उन लोगों के सामने ही वह गिरफ्तार हुआ है। सब गवाही

देंगे। एक विचित्र बात और हुई है---कोई डेढ़ बरस पहले रामरतन के यहां एक और चोरी हुई थी, ; उस बार कोई १००) की जमा गई थी। किसी पर शक न होने के कारण पुलिस में उसकी इत्तला थी। उन, चोरी गई हुई चीजों , में से एक मुहर निहोर गले में पहिने भी न हुई हुए था। निश्चय था कि खाना-तलाशी पर उसके यहां पहली चोरी की और चीजें बरामद होंगीं।

कार्रवाई इस सफ़ाई से की गई थी कि इने-गिने लोगों के सिवा किसी को कानों-कान खबर न थी। स्वयं निहोर को नहीं मालूम था कि तिवारी जी उसे किस वास्ते लिए जात हैं। उससे यही कहा गया था कि एक काम है, खेत पर चलना, फिर थोड़ी देर में चले आना। उसने समझा कि कोई चूहे की बिल[1] खोदनी होगी।

सारे कुचक्री गांव से अलग-अलग निकले थे। बस्ती के बाहर खेतों पर मिलने का संकेत था। वहां से एकत्र होकर लोग थाने पर गए। स्वयं ग्राम-देवता भू-स्वामी ने अपने श्रीमुख से, वहीं निहोर के अपराध (!) की घोषणा की थी।

दारोगा ने निहोर से जो बातें कही थीं, वह सब ठाकुर साहब से राय कर के। ठाकुर साहब स्वयं इतना ही चाहते थे कि निहोर पर आर्थिक आपत्ति आ पड़े और वह दब भी जाय।

३

संध्या की धूसरता क्षितिज से धीरे-धीरे आकाश में ऊपर चढ़ने लगी। सूर्य की अन्तिम किरण आकाश को चूम कर बिदा हुई। प्रकृति

१---पासी जाति चूहे आदि की बिल खोदने का काम भी करती है, क्योंकि चूहे, साही, गोह आदि उसके भक्ष्य हैं।

निस्तब्ध हुई। पत्तों तक ने हिलना-डोलना बन्द किया। प्रकाश के वियोग से पुष्करिणियों ने अपने मुख पर कालिख पोत ली। सारा दृश्य नींद के बोझ से दबती हुई पलकों में अधमुंदी आंखों से दीख पड़ने वाले दृश्यों के सदृश, धुंधला हो उठा। विहग-कुल एक बार संध्या-प्रार्थना-सदृश कलकल करके वृक्षों पर विश्रान्त हुआ। गाय-बैल सानी खा खाकर आनन्द से बैठ जुगाली करने लगे। जहां दिन था, वहां रात होगई।

यहां-वहां खेलते हुए लड़कों के झुण्ड क्रमशः घर लौटने लगे, और गांव पर धुएँ का आटोप फैल गया। आज से सात-आठ सौ वर्ष पहले जिस प्रकार हमारे पुरखे आग के चारों ओर बैठकर उसका सेवन करते थे, उसी प्रकार उस गांव में आज भी लोग तपनी ताप रहे हैं। तब सोमपान होता था, आज धूम्रपान हो रहा है। तब सामगान होते थे, आज तमाम दुनिया का पचड़ा गाया जाता है। अग्नि चट् चट् शब्द करके धधक रही है, उसकी शिखा से निकल कर चिनगारियां जुगनू की तरह अन्तरिक्ष में उड़ती हैं और एक ही क्षण में अन्तर्हित हो जाती हैं।

इसी समाज में निहोर की हिरासत का हाल पहले पहल प्रकाशित हुआ। तो भी उसकी सत्यता पर लोगों को सन्देह होने लगा। क्योंकि न तो निहोर ऐसा आदमी ही था, न उसे गिरफ्तार होते किसी ने देखा था। अतः मण्डली के कई व्यक्तियों ने नौदर काछी से कहा—"तनी, जाऽत हो ओकर जोह तऽ ले आवऽ, ई बात सच्च बा कि नाहीं[1]।"

निहोर की स्त्री महीनों से बुखार में पड़ी थी। उसे इसकी कुछ

[1]—तनिक जाओ तो उसकी जोह तो ले आओ, यह बात सच्च है या नहीं।

ख़बर ही नहीं। जब नौंदर ने उससे पूछा, तब जिस प्रकार कच्ची नींद से जगाये जाने पर उठनेवाले को एक क्षण तक कोई ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार यह प्रश्न सुन लेने पर भी, वह समझ न सकी। पीछे उसे ठाकुर के कोप का ध्यान आया।

"भैय्या हम तऽ बेजार हईं। महिन्नन से जर पीछा नाहीं छोड़त। घरे से निकस नाहीं सकित। ससुरे से बिटिवा आइल तो घरे चूल्हवौ बर जाला, नाहीं तऽ हमरे मलिकवै के मरै पड़त। आज तिस्सरे पहर तक तऽ घरे रहल, फिर जे गयल से नाहीं लउटल। रामै जानै का भयल। तूं तऽ जनतै बाटऽ की ठकुरा आज करल कोपल बा। ले भैय्या, कहां से रुपैय्या जुटावल जाय। आज कल समय—काल कैसन खराब आयल हौ। से ऊ किछ फौरेब ठढ़ा कैले होय तऽ होय। नाहीं तऽ तूं जान लऽ हमार जने कैसन बाटें। राम! अब्बर के बदे सबै जब्बर होला। अब बुधनिया के भेज के खबर मँगाई ला न।[1]"

"कहां भेजबू ?[2]"

१—भैय्या! हम तो बीमार हैं। महीनों से ज्वर पीछा नहीं छोड़ता। घर से निकल नहीं सकती। ससुराल से बिटिया आई तो घर में चूल्हा भी जल जाता है, नहीं तो हमारे पति को मरना पड़ता। आज तीसरे पहर तक वह घर में था, फिर जो गया सो नहीं लौटा। राम जाने क्या हुआ। तुम तो जानते ही हो कि ठाकुर आजकल उस पर कुपित है। हे भैय्या, कहां से रूपया जुटाया जाय ? आजकल दिन कैसा खराब आया है! सो उसने कुछ अभियोग खड़ा किया हो तो हो। नहीं तो तुम जानते हो हमारा आदमी (पति) कैसा है। राम! कमजोर के लिए सभी ज़बरदस्त होता है। अब बुधनिया को भेजकर खबर मँगाती हूँ न।

२—कहां भेजोगी ?

"ठकुरे किहां।[1]"

"ऊ बतावै वाला हौ।[2]"

"तब का करीं, भैय्या ?[3]"

"अरे ओके थनवा पर भेजऽ। हुँअईं से पक्का हाल मिली। ऊ डरै तौ ओकरे संगे हम चलल जाईं।[4]"

बुधनी भी वहीं आ गई थी। उसने घबराकर पूछा—"का भैल, माई।[5]" यद्यपि वह युवती हो चुकी है, किन्तु उसमें बालिका-सहज सरलता अभी बनी है।

"बचवा तोहरे बाबू पर सुनत हईं, थाना फउजदारी लगल बा। बिना कहले सुनले गइलैं, अब हीं तक आवै कऽ नाम नाहीं, एसे हमरो माथा ठनकत बा। बचवा हम त मरत हईं, तनी तुहईं जायके ओकर हाल लऽ। ई ठाकुर चण्डलवा न जानी काहें हमरे मारे पर लगल बा। बचवा, थनवा जाए के होई, डरबी तऽ नाहीं। नाहीं त नौदर भैय्या तोहरे संगे जाए के बदे तयार बाटैं।"[6]

१—ठाकुर के यहां।

२—वह बताने वाला है!

३—तब क्या करूँ भैय्या?

४—अरे, उसको थाने पर भेजो। वहीं से पक्का हाल मिलेगा। वह डरे तो उसके संग मैं चला जाऊँ।

५—क्या हुआ, मा?

६—बच्ची! तेरे बाबू (पिता) पर सुनती हूँ, थाना-फौजदारी लगी है। बिना कहे-सुने गए, अभी तक आने का नाम नहीं, इससे मेरा माथा भी ठनकता है। बच्ची, हम तो मरती हैं, तनिक तू ही जाकर

"नाहीं माई, डरब काहें? हम अबहीं जाई ला। नौदर चच्चा, तूँ केहसे सुनलऽ?"[1]

"हमके ठीक नाहीं खियाल बा। अरे ई बतिया त गौंआं भरे में फैलल बाटे। कहि नाहीं सकित कि कहां तलुक ठीक हौ।"[2]

"चच्चा, ऊ ठीकै होई। हम सब रंग देखत न हई। अच्छा चच्चा, तूँ जा, हम डरब नाहीं। हमहूँ धावलै जाब। अब जिव नाहीं मानत।"[3]

नौदर तपनी की ओर चला और बुधनी तेजी से थाने की तरफ़ बढ़ी। दोनों के जाने पर, जैसे नींद शिशुओं की आंखों पर हठात् पलकें ढाल देती है, उसी तरह करुणा उस दुखिया की आंखों से हठात् आंसू बहाने लगी।

४

"दोहाई बाबू कऽ। बताय द, हमार बाबू हियां बाटें?"[4]

उनका हाल ला। ठाकुर चाण्डाल न जाने क्यों हमें मारने पर लगा है? बच्ची, थाने पर जाना होगा, डरेगी तो नहीं? नहीं तो नौदर भैय्या तेरे संग जाने के लिए तैयार हैं।

१—नहीं मां! डरूँगी क्यों? मैं अभी जाती हूँ। नौदर चाचा, तुमने किससे सुना?

२—हमें ठीक ख़्याल नहीं है। अरे, यह बात तो गांव भर में फैली हुई है। कह नहीं सकते, कहां तक ठीक है।

३—चाचा, वह ठीक ही होगा। मैं सब रंग देख रही हूँ न। अच्छा चाचा, तुम जाओ, मैं डरूँगी नहीं। मैं भी दौड़ती जाऊँगी। अब जी नहीं मानता।

४—दुहाई बाबू की! बता दो, मेरे पिता यहां हैं?

"ज़रा भी चैन नहीं। आंख लगते न लगते ससुरी ने जगा दिया। जब देखो, कोई न कोई चला आता है। पुलिस होने पर तो यह हाल, पुलिस न रह जाय तो दुनिया में न जाने क्या हो जाय। शायद आदमी को आदमी कच्चा खा ले।" दिलेरखां का यह पहरा था। पर वह बेंच पर लेट कर ऊँघ रहा था। "अब यह कहां की बला आई। बोल सुअर की बच्ची, क्या कहती है?"

"दोहाई साहब कऽ। तनी, बताय द जे हमरे बाबू इहां बाटें?"[1]

"धुत्............' तमाम दुनिया का बाप तो मैं बैठा हूँ। यहां तेरे बाप-सांप नहीं। भाग नहीं तो मारे लातों के कमर तोड़ दूँगा।"

बुधनी रोने लगी।

"रंडी कहीं की, अब यह नखरा फैलाया? का नाम है तेरे बाप का?"

"दारोगा जी, ओकर नांव निहोर बा।"[2]

"अरे वह निहोरवा ससुरा, देस भर का पाजी—तू उसी की लड़की है? तभी तो ये चोचले करती है! यहां वह कहां! वह तो काल-कोठरी में बन्द है।"

"दोहाई साहब कऽ। ओके छोड़ देईं। नाहीं तऽ मर जाई।"[3] बेचारी रोते-रोते विकल हो उठी थी। हिचकियां बँध गई थीं।

"छिनाल कहीं की! इस चाल से वह नहीं छूटता। कुछ माल-ताल निकाल, तब काम चले।"

१—दुहाई साहब की! तनिक बता दो कि मेरे पिता यहां हैं?

२—दारोगा जी! उसका नाम निहोर है।

३—दुहाई साहब की! उसको छोड़ दीजिये, नहीं तो मर जायगा।

"साहेब, ले हमरे माल होत तो ई दुरगत काहे होत?"[1]

"साली, हम यह कुछ नहीं जानते। माल तो तेरे पास बहुत है। चल दरोगा साहब से कह। वही तुझे सब कुछ बतावेंगे। उन्हीं को राजी कर, तब निहोरवा साला छूटेगा।"

बेचारी के मन में आशा का संचार हुआ, इसी से कहते हैं कि बुधनी में बालिका-सहज भोलापन बना हुआ था।

तारकाओं से आने वाले मन्द प्रकाश की भांति,—बुधनी की पुकार निहोर की बन्द कोठरी तक पहुँची थी। पहले तो निहोर को स्वप्न का भ्रम हुआ। पर जब बार-बार उक्त वार्त्तालाप की अस्पष्ट ध्वनि वहां पहुँचने लगी, तो वह तड़फड़ा उठा।

बुधनी का संवाद एक आदमी और सुन रहे थे। वह थे स्वयं दारोगा जी। वे कोठे पर से बड़े ध्यानपूर्वक कान ही नहीं लगाये हुए थे, बल्कि झांक भी रहे थे।

❀ ❀ ❀

दिलेरखां ने बुधनी को उनके कमरे के सामने ला खड़ा किया— "जा, भीतर दारोगा जी बैठे हैं। वही सबके मालिक है। उन्हीं को राजी कर ले तो निहोरवा छूट जाय।"

वह रोती हुई उनके चरणों पर लोटने लगी। इस पर ध्यान देने के पहले दारोगा जी ने अपने कमरे के किवाड़े बन्द कर लिए।

❀ ❀ ❀

१—साहब ! यदि हमारे माल होता, तो यह दुर्गति क्यों होती ?

निहोर को ऐसा मालूम हुआ कि अपनी एक मात्र कन्या का आर्त्तनाद सुन रहा हो। उसका मस्तिष्क इतना उत्तेजित हो उठा था कि वह न समझ सका कि वह पागल है वा सचेत। उसकी आंखों तले न जाने क्या-क्या इन्द्रजाल हो रहे थे।

भूखे सिंह की तरह वह उस रुद्ध कोठरी में कावे काटने लगा।

गहूला

उत्तरी भारत के हूण अधिपति तोमारल के राज्य में मन्दसोर एक प्रधान प्रान्त था। हेमनाभ वहां का क्षत्रप था। वह साल में दो बार अधिपति की सेवा में कर देने उपस्थित होता। हूण-साम्राज्य की राजधानी उस समय मथुरा थी।

हेमनाभ वहां एक महीना बिता कर घर लौटता। मन्दसोर में मथुरा-जैसी चहल-पहल थोड़े ही थी। फिर, वहां के बाजार में देश-देशान्तर की चीजें आतीं---चीन के कौशेय, सिंहल के छपे कपड़े और मोती, पारस के घोड़े, यवन दास-दासियां---जो चाहो, एक ही स्थान पर ले लो। मथुरा उन दिनों की कलकत्ता, बम्बई समझिये। क्षत्रप अपने लिए, मित्रों के लिए और व्यवसाय के लिए हजारों का माल लेता। उस समय के हज़ार का मोल आजकल के लाख के बराबर है।

राजधानी के सभी उच्चपदस्थ कर्मचारियों से उसका खूब मेल-जोल था। कुछ पद के कारण नहीं---अपने स्वभाव के कारण भी। वह बड़ा ही मिलनसार था। अक्सर अपने इन मित्रों के संग वह आपानकों, गोष्ठियों और यात्राओं के सुख लूटता। किन्तु क़दम्ब और तमाल के झुरमुटों में जब शराब का बाज़ार गर्म हो उठता, तब क्या जाने क्यों उसका हृदय उदास हो जाता। नशे से उत्तेजित मस्तिष्क उन कुञ्जों में कृष्ण-क्रीड़ा के दृश्य उसके सामने खड़े करता और साथ ही उसकी नशीली मनोवृत्ति उसे थपेड़े लगाने लगती कि आज उन्हीं कुञ्जों में हूण आनन्द कर रहे हैं और तुम, चन्द्रवंश की सन्तान भी, उन्हीं के पीछे लगे-लगे मुर्दे की तरह यह दशा देख रहे हो।

फिर, मन्दिरों की चहल-पहल, ––हीनयान, महायान आदि अनेक बौद्ध सम्प्रदाय और हिन्दू दोनों ही धर्मों के मन्दिरों में उसे भिन्न-भिन्न दृश्य दिखाई पड़ते। जैन-मन्दिरों का वातावरण इन दोनों से भिन्न था। देव-कुलों की चहल-पहल कुछ निराली ही थी। अजातशत्रु से लेकर उस समय तक के सम्राटों की प्रतिकृतियां देख-देखकर उसके हृदय में विलक्षण-विलक्षण भाव जागृत होते।

मठों और विहारों में जाना भी वह न भूलता। और फिर, एकान्त में बैठ कर वह, सद्धर्म से लेकर आज के महायान और उसके अवान्तर यानों तक के क्रम-विकास पर विचार करता। भगवान् तथागत के धर्म का यह नया उग्र रूप उसे न जँचता। स्थविरों की करतूतों से उसे बौद्ध-धर्म के ह्रास का निश्चय था। फिर, वह यह भी देखता कि किस प्रकार एक ओर इन उत्कट सिद्धान्तों को हिन्दू कौल अपना रहे हैं, दूसरी ओर सद्धर्म की सभी अच्छी बातें कट-छँट कर भागवत-धर्म में विलीन हो रही हैं।

प्रबन्ध के झंझटों से साल में दो बार अलग होकर, इन सब बातों के निरीक्षण और समझने में उसे बड़ा आनन्द मिलता। उसकी कुण्ठित वृत्तियां पुनरुज्जीवित हो उठतीं और अपनी नगरी में लौटकर वह नये उत्साह से अपना कार्य-भार वहन करता।

इन सबसे बढ़कर उस राजधानी में एक और आकर्षण था––राजकुमारी गहूला विशेष आग्रह से हेमनाभ को राजधानी में रुकने कहती।

एकोनविंशति-वर्षीया राजकन्या अक्सर उसे अपने उपवन में बुलाती और माधवी-निकुञ्ज में उसे अपने सामने बिठाकर मन्दसोर के बारे में अनेक बातें पूछती––

"सुनती हूँ वहां सौन्दर्य की खान है। क्षत्रप, तुम एक बार तो मुझे वहां की सुन्दरियों से मिलाओ, मैं उनसे मैत्री करूँगी। राजकन्या-जैसा बर्ताव न करूँगी। बोलो, मुझे कब वहां की यात्रा कराओगे?"

"देवि, जब आपकी आज्ञा हो"—प्रतिबार हेमनाभ का यही उत्तर होता; और राजकुमारी कभी कोई समय नियत न करती। साथ ही, उससे उक्त बात कहना भी न भूलती। अक्सर इसके संग उलाहना भी सम्मिलित होता:—

"उस बार तो खूब ले गए! देखना है, इस बार ले चलते हो कि नहीं। क्या तुम्हें वहां की सुन्दरता पर इतना ममत्व है कि संसार को उससे वञ्चित रखना चाहते हो? मुझे तो इसी का अचरज है कि उस पर तुम्हें इतना मोह है तब भी तुम क्वांरे क्यों बने हो!"

"भवति, मोह से क्या, प्रेम जो चाहिये।" इस उत्तर के संग उसके मुंह से एक ठंढी सांस भी निकल जाती।

घड़ियों बातें होतीं। मोतिया और फरास के पेड़ मर्मर किया करते और राजकुमारी अपने एकटक धवल नयनों से हेमनाभ को सींचती हुई उसकी बातें सुना करती। अपने हाथों स्फटिक-पात्र से द्राक्षासव ढाल कर रत्न-चषक से उसे पिलाती और उसकी आंखों में राग दौड़ते देखती।

कभी उसे अपने मयूरों का नृत्य भी दिखलाती और पूछती कि कहीं ऐसे सुन्दर मयूर तुमने देखे हैं?

"श्रीमती, चाहे आप मेरा विश्वास करें वा नहीं—ब्रज-जैसी सुन्दरता मैंने कहीं नहीं देखी। एक, मयूरों पर ही क्या!"

"किन्तु एक बात तुम भूलते हो। एक मुझे छोड़कर!!"—राजकुमारी की बड़ी-बड़ी आंखें हेमनाभ का मन टटोलने लगतीं और बिना

उसके मुंह से कुछ कहलाये हुए भी अभिलषित साथ ही सच्चा उत्तर पाकर तब कल पातीं। इस बीच में हेमनाभ सिर नीचा ही किये रहता। जब राजकुमारी के नेत्र हट जाते, तब एक ही निमेष में आंख भर के, उसका मुंह देखकर वह राजकुमारी से आज्ञा लेता।

क्या जाने क्यों पीठ फेरते ही उसके मुंह से एक दीर्घ निश्वास निकल पड़ता। इसी के संग उसे किसी और के निश्वास की आहट भी मिलती।

जब बिदा का समय आता, गहूला उसे अपना लीला-कमल देती और सहेजती—"देखो, अपने कार्य में प्रमत्त न होना।" हेमनाभ उस कमल तथा आदेश को सिर चढ़ा कर बिदा होता। किन्तु, एकांत पाते ही उस कमल को अपनी छाती से लगाता। संभवतः इसके साथ ही वह आदेश भी उसके हृदय पर अंकित हो जाता रहा हो।

उस लीला-कमल को वह फेंक न देता। एक सुगंधित रेशमी टुकड़े में लपेट कर उसे सौवर्णसूत्र से बांध कर एक सुन्दर मंजूषा में रखता जाता। प्रत्येक पर स्वर्ण की एक मुद्रा भी बनवा कर ग्रथित कर देता। इन मुद्राओं पर पाने की तिथि और संवत् अंकित होते। अक्सर उन्हें देखकर वह अतीत के स्वप्न देखता।

२

एक साल मन्दसोर में वर्षा न हुई। भयानक काल उपस्थित हुआ। उस समय रेल न थी कि अन्न कहीं बाहर जाता। पर वहां तो अन्न जाने का कोई प्रश्न ही न था। एक दाना भी तो न उपजा था। चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग देश छोड़-छोड़कर भागने लगे। हेमनाभ ने पीड़ितों की सहायता के लिए कई सागर-आदि बनवाना आरम्भ किया। पर यह सब ताड़ में तिल बराबर था।

राजस्व वसूल होने की कोई सम्भावना न थी । हेमनाभ के लाख सिर मारने पर भी कोई फल न हुआ।

अब कर लेकर मथुरा में उपस्थित होने का समय बीत गया, तब उसने सब हाल सम्राट् तोमारल के पास लिख भेजा। और अपने प्रांत को उस वर्ष के लिए कर-मुक्त करने की सम्मति दी। किन्तु हूण-शासन विचारमूलक न था। उसका मूल मंत्र था—तलवार का जोर, भयंकर रक्तपात, प्रलयंकर उत्पात, निर्दयता की पराकाष्ठा।

आदेश हुआ, 'तलवार से कर वसूल करो। जो गांव भूखे मर रहे हों, उन्हें जला दो। ऐसों के मरने ही में उनको और साम्राज्य दोनों को सुख है। सहायता का काम बन्द कर दो। रिक्त राज्य-कोष को और रिक्त न करो। नगर में मुनादी करा दो कि तीन दिन में लोग प्रांत-भर के लिए कर चुका दें, नहीं तो तलवार के जोर से कर वसूल किया जायगा; महीपति की आज्ञा शिरोधार्य न करनेवालों के रक्त से उत्तप्त मही सींची जायगी ।"

हेमनाभ कांप उठा। इससे जघन्य और क्या आज्ञा हो सकती थी? वह अपने पद और अपने को कोसने लगा। किन्तु राजाज्ञा माननीय थी। क्या इसी दिन के लिए गहूला उसे प्रतिबार अपने कार्य से प्रमत्त न होने के लिए चिताया करती? गहूला ! राजकुमारी! क्या वास्तव में तुम हूण-रमणी हो?

चाहे आज हम लोगों को इस बात का आश्चर्य हो कि एक आदमी का, जिसके किसी पूर्वज ने बाहु-बल से राज्य-स्थापना की हो, लोग क्यों कर मंत्र-मुग्ध सर्प की भांति—बीसवीं सदी के यंत्रों की भांति—बिना कुछ कहे-सुने, आदेश , चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, पालन कर सकते थे। लेकिन जिस जमाने में बुद्धि की परतंत्रता थी और आज भी जहां

बुद्धि की परतंत्रता है, वहां के लोगों को अपनी इस हीनता का ज्ञान नहीं। बुद्धि, तुझे परतंत्र बनाने में जन्म से ही रूढ़ियों की शिक्षा का कितना हाथ है, इसका उत्तर तू ही दे।

हेमनाभ के लिए कोई मार्ग न था। उसने स्वयं राजनगर में जाकर सब बातें तै क्यों न कीं। संभव था कि वह मंदसोर को इस कठिन आज्ञा से बचा लेता। वह अपने को धिक्कारने लगा। अब आज्ञा-परिवर्तन असम्भव था। भला हूणराज के मुंह से जो बात निकल गई वह बदली जा सकती है? सेना से भी वह, आज्ञापालन-मात्र के लिए—विवेक और दयापूर्वक—आज्ञापालन को नहीं कह सकता। क्योंकि हूणों ने अपना राज्य स्थिर रखने के लिए और, अपनी नीति न बदली जाने के लिए, सेना-विभाग नीचे से ऊपर तक, अपने ही लोगों के हाथ में रक्खा था।

लाचार होकर उसने अपने प्रान्त के सेनापति देहधारी भरक, खरूतुन को सम्राट् की आज्ञा सुना दी। फिर क्या था। मानों बहुत दिनों की बँधी नदी का बांध तोड़ दिया गया हो। उस नर-राक्षस के आनन्द की सीमा न रही। गांव-गांव, अश्वारोही हूणों के घोड़ों की टाप से खाली घड़े की तरह प्रतिध्वनित होने लगे। अनेक दीन जनों को कवलित कर करके क्रव्याद अपने दोनों अर्थों को सार्थ करने लगा। आकाश-मण्डल चिर्राइन महक से भर उठा।

इधर मन्दसोर नगर में पटह-घोषणा होने लगी—

"सुनो नागरिको, मन्दसोर के आबाल-वृद्ध-वनिता नागरिको, परम भट्टारक परमेश्वर, सर्व-शत्रुविजयी, सर्व-समर्थ, श्रीमान् महाराजाधिराज, दिगंत-व्यापमान-कीर्तिसितातपत्र-रवितेज-अहर्निश-प्रकाशित-त्रैलोक्य, हरि-सदृश-श्री-सेवित-पाद-पद्म, अखण्ड चक्रवर्ती हूणेश्वर-तोमारलदेव का

आदेश सुनो—इस घड़ी से तीन दिन के भीतर अपने प्रान्त की कर-मुद्रा, यदि राजकोष में न पहुँचा दोगे तो शस्त्रबल से सेनापति राजस्व इकट्ठा करेंगे और सदैव को तुम्हारा कलंकित नाम राजद्रोहियों में गिना जायगा।

क्षत्रप हेमनाभ की आज्ञा से यह राज-आदेश घोषित किया जाता है।"

घोषणा से नगर में बड़ी अव्यवस्था फैल उठी। कितनों ही ने दुःख सह कर मरने से एकबारही तलवार से कट जाना अच्छा समझा। कितनों ने प्रतिष्ठा के विचार से विष खा लिया। कितने डर के मारे, मरने से दुःसह कष्ट भोगने लगे। कामुक अपने इन्द्रिय-सुख और कृपण अपने धन से विलग होने के सोच से विकल हुए जाते हैं। माता अपने पुत्रों के लिए और पत्नियां अपने पतियों की चिन्ता में मरी जाती हैं। कुछ धूर्तों ने नगर से भाग कर जान बचाने की सोची। पर हूण मूर्ख न थे। नगर चारों ओर से घिरा हुआ था।

तीन दिन बीतने पर हैं, पर कोष में कर का षष्ठांश भी नहीं पहुँचा। आज "नव पत्रिका" का उत्सव-दिन है। जहां नगर पर आनन्द की घटा छाई रहती, आज वहीं आपत्ति के काले मेघ घिर आये हैं। ऐसे समय में कुछ जिन्दादिल लोगों ने विचार किया कि जब मरना ही है तब उत्सव-भूमि में एकत्र होकर उसी का स्मरण करते-करते प्राण देंगे। अशोक वनिका में भीड़ होने लगी। धीरे-धीरे बहुत से लोग जुट गये।

तीन दिन पूरे हुए। विपत्ति-मेघ, जनता पर खड्ग की बिजली गिराने लगे।

स्वयं, खरूतुन ने वनिका घेर ली। ज्यों ही वह शस्त्रपात की आज्ञा देने को था कि हेमनाभ घोड़ा फेंकता हुआ आ पहुँचा। उसने जोर से

पुकार कर कहा—"सुनो खरूतुन, मैंने सेवक-धर्म का पालन कर दिया। अब नागरिक-धर्म का पालन करने आया हूँ। तुम सँभल जाओ।"

सारी भीड़ और सेना एक बार निस्तब्ध हो गई। हेमनाभ ने भीड़ को उत्तेजित करने के लिए दो ही चार वाक्य कहे, किन्तु उनका असर मंत्र-जैसा हुआ। उसका यही कहना था कि जब मृत्यु सम्मुख ही है, तब प्रेतलोक क्यों जाते हो; वीरगति से स्वर्गलाभ करो।

भीड़ में जाने कहां की शक्ति आ गई। हेमनाभ खरूतुन पर टूट पड़ा और भीड़ सैनिकों से गुथ उठी। जिनके पास शस्त्र न थे, उन्हें भी सैनिकों से—हूण सैनिकों से —शस्त्र छीनने का बल आ गया।

खरूतुन मन्द पड़ता जाता था। किन्तु ज्यों ही हेमनाभ उस पर वार करे, पीछे से एक हूण ने उछल कर उसकी गरदन उतार ली। फिर क्या होना था। जिस लकड़ी के सहारे उस समूह का जर्जरित गात्र खड़ा था, जब वही टूट गई, तब वह कैसे संभलता ? थोड़ी देर में, यज्ञ में मारे गए पशु की भांति, जिसके मुंह से शब्द तक नहीं निकलने दिया जाता, वह भीड़ वहीं ढेर हो गई। कोई भी वनिका के बाहर न जाने पाया। रक्ताशोक रक्त से तर हो उठे। हूणों की तलवारें, जो बरसों से प्यासी थीं और मारे क्रोध के आपे से अपने को ही —जंग लगा कर—खाये जाती थीं, आज निरीहों का रक्त आकण्ठ पान करके तृप्त हुईं। किसी बड़े भारी यज्ञ के लिए इतनी बलियां चढ़ गईं।

३

विशाल पट-मण्डप में उपहार की सभी वस्तु एकत्र हैं। सेनापति खरूतुन मन्दसोर से जो लूट का माल लाया है, उसे सजा कर रखवा रहा है। हूण-सम्राट् के आने की देर है। बड़े गर्व से वह अपनी भोंड़ी

मूछों को ओठों से चबाता हुआ, अपनी चौड़ी और चिपटी तलवार के सहारे खड़ा है।

भारतीय प्रथा से, वन्दीगणों ने हूणेश के आगमन की सूचना दी। दर्शकों पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़ा। भीषण विजय के घोष में भयानक हूण शरीर, सज्जित भद्रासन के सहारे टिक रहा। वह रुधिर-दिग्ध उपहारों को लोलुप दृष्टि से देखने लगा। खरूतुन ने अपनी नृशंसता की वर्णना बड़े आतंक से की और हूण-सम्राट् ने अपना मुंड़ा सिर हिला कर उस कु-काण्ड का समर्थन किया। यह भयानक प्रसन्नता हूणों की विलास-वस्तु है। वे फिर आनन्द से चीत्कार कर उठे। इसी समय युवती राजकुमारी गहूला मन्दगति से उस मण्डप में पहुँची। पुनर्बार चीत्कार हुआ, यह उसका स्वागत था। संस्कृत कवियों ने सम्भवतः उसे ही देख कर कहा है—

"हूण-रमणी चिबुकप्रतिस्पर्धिनारंगकम्"

वही स्वाभाविक लाली उपहारों को देखकर हँसने में और भी बढ़ी जाती थी। उसने स्नेह दिखाते हुए पिता की बांह पकड़ ली और बगल के मंच पर बैठ गई। उन वस्तुओं में से भारतीय कला का एक उच्च आदर्श, सुन्दर सोने के पुष्पों से सजी, चन्दन की एक मञ्जूषा जिसमें रत्न भी लगे हुए थे उठा कर खरूतुन, गहूला के सामने ले गया। राजकन्या के लिए ऐसा ही सुन्दर उपहार उपयुक्त था। सम्राट् भी प्रसन्न हुए। गहूला ने सम्राट् पर कृतज्ञता की दृष्टि डाली। किन्तु खरूतुन उससे पुलकित हो उठा।

उपहार-वितरण अभी बाकी था। तोमारल और सामन्तगण उसी में लग गये। गहूला ने धीरे-धीरे वह मञ्जूषा खोली। देखा—कई सूखे हुए कमल स्वर्ण-मुद्रा-ग्रथित रेशमी कपड़े में लिपटे हैं। उसने मुद्राओं पर के

लेख पढ़े। एक क्षण में अतीत के अनेक दृश्य उसके नेत्रों के आगे घूम गये। वह पीली पड़ गई, मञ्च के सहारे टिक गई। उसके हूण-रक्त ने ही उसे मूर्छित होने से बचा लिया।

तोमारल ने अकारण उस ओर देखा। किसी जादू-टोने का ध्यान करके उसका उपचार होने लगा। क्षण-भर में बड़े-बड़े हूण गुणी आ जुड़े। उपहार-वितरण की सभा वहीं भंग हुई।

४

गहूला की आंखों का वह रस न जाने कहां चला गया। उसका मुख निष्प्रभ हो उठा है। उसके हृदय में उच्छ्वास लेने की शक्ति नहीं रह गई है। अब उसका हाथ लीला-कमल-बिना सूना रहता है।

आज वह स्फटिक-आसव-पात्र टूटा पड़ा है। उसके आसव-घट कब के सूख गए हैं और रत्नचषक यमुना में डुबा दिया गया है। उसका माधवी-कुञ्ज अब उजड़ा पड़ा है और उसके मयूर ताल पर नाचना भूल गये हैं।

इनाम

१

दिन के सब झंझटों से निवृत्त होकर, रात के सन्नाटे में मैं अपने प्राचीन चित्रों के संग्रह से मन बहलाता।

आज ही मुझे एक नया चित्र हाथ लगा था। यह चित्र ऐसा वैसा नहीं, दिल्ली की कलम का एक बड़ा ही उत्कृष्ट, नहीं, अलभ्य नमूना है। मेरे पास एक-से-एक अच्छे सैकड़ों चित्र हैं। और लोगों के अमूल्य संग्रह भी मैं देख चुका हूँ। लेकिन इतनी ऊँची कारीगरी की चीजें बहुत ही कम नजरों तले गुजरी हैं।

कैसे आ गया ? सोच कर मुझे भी आश्चर्य होता है। सच है—'जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू॥' जब से मैं चित्र संग्रह करने लगा हूँ, अनायास चीजें मिल जाना कोई अचम्भे की बात नहीं। तो भी ऐसी बढ़िया चीज का आप-से-आप आ जाना केवल भाग्य की बात है।

सुबह मैं दीवानखाने में बैठा हुआ था। एक दरबान ने आकर इत्तला की कि एक मियां जी तसवीर दिखाना चाहते हैं। मैंने जी में कहा—आज सबेरे ही अच्छा शकुन हुआ। उन्हें बुलाया। फ़र्शी आदाब करके बैठने पर वे कहने लगे—"जनाब, गरज बावली होती है, नहीं तो मैं भला घर से निकलने वाला हूँ। फीरोजशाह के खान्दान में मैं तनहा बच रहा हूँ। पर क्या करूँ ? शाही आदतें! वसीके, जागीर, जमींदारी जवाहिरात क्या नहीं बिक गए! लेकिन अब भी कुछ कमी

नहीं। जब जरूरत होती है एक-आध चीज अलाहदा करके--बड़ों के अकबाल से,--काम चलाता ही हूँ। मेवाफरोश का महीनों का हिसाब हो चुका। वह कमबख्त अब सर खाता है कि फलों की फस्ल बीत गई, बेपारियों का हिसाब चुकाना है। इसलिए मैं आपको तकलीफ़ देने हाजिर हुआ हूँ। देखिए, अगर आपको यह तसवीर पसन्द हो तो.........।" वे जरा रुके। मैं मन-ही-मन इस लम्बी-चौड़ी भूमिका पर उन्हें कोस रहा था। चित्र देखने को जी लोटपोट था।

मैंने कहा--"हां, कहिये न। आपको कितना दरकार है?"

"ज्यादा नहीं, ३००) से मेरा काम निकल जायगा। इससे अगर एक पाई भी कम हुई तो नहीं।"

मैंने चित्र उठा लिया था। उनका रूमाल, जिसमें वह लिपटा हुआ था, हटा कर मैंने जो देखा, उसकी प्रसन्नता रोकने के लिए पूरा आत्मबल लगाना पड़ा था। शाहजादा साहब तीन सौ के बदले तीस सौ मांगते, तो मैं खुशी से दे देता। जल्दी रुपया दिला कर मैंने उन्हें बिदा किया। और उनसे, जब ऐसी कोई चीज निकालनी हो, तब अपने ही पास लाने का आग्रह किया।

अब तक वह चित्र मेरे आगे लापरवाही से पड़ा हुआ था। शाहजादे के पीठ फेरते ही मैंने उसे अभिलाषा-पूर्वक उठा लिया। देखते ही हृदय में बिजली-सी दौड़ गई। उस सुख की समानता शायद ब्रह्मानन्द ही कर सके।

देर तक मैं उसे देखता रहा। बीच-बीच में, सम्भवतः मेरे हृदय के भाव मुंह से भी निकल पड़े हों। न जाने और कितनी देर तक मैं उसे देखने में लगा रहता। पर बाला-खाने से एक मधुर स्वर आया---

"अकेले-ही-अकेले; मुझे न दिखाइयेगा न !" झरोखे की चिक जरा-सा टाल कर मेरी हृदयेश्वरी झांक रही थी। उस छटा से यह स्वप्न भंग हुआ। मैं चित्र लेकर ऊपर गया।

२

हम दोनों मिल कर उस चित्र की खूबियां देखने लगे—क्या भाव, क्या कलम, क्या रंग, क्या सोना, क्या सजावट, क्या सबका सन्दर्भ; बस, कारीगर ने कहीं भी कोई बात उठा न रक्खी थी। न कहीं से जान ही चुराई थी। जिस उत्साह से काम शुरू किया था, उसके दूने उत्साह से कलम को विश्राम दिया था। कहीं से कोई भी बात बेमेल न होने पाई थी। न कोई कमी ही थी। कमी थी, तो केवल इतनी, कि हमें आलोचना के लिए कोई बात न मिली। जितना-जितना उसे देखते जाते, उतना-उतना, जी और खुश होता जाता। नई-नई बारीकियां मिलती जातीं।

चित्र के चारों ओर कोई पांच इंच चौड़ा हाशिया था। इसकी ज़मीन सन्दली रंग की थी, जिस पर सोने के डन्डे और मुर्रियों का जाल बनाया गया था। इन जालों के बीच में रुपहली बूटियां थीं। इन बूटियों के भिन्न-भिन्न अंशों पर भिन्न-भिन्न रंग दौड़ाये गए थे, जिनसे एक चांदी कई रंगों की जान पड़ती थी। इतने ही से कारीगर का संतोष न हुआ था। उसने सुई से इन पर परदाज किया था, जिससे बूटियां बुनावटी जान पड़ती थीं। सारा हाशिया बहुत ही उत्कृष्ट कमखाब का टुकड़ा-जैसा जँचता था। इसके भीतर जरा-सी जगह छोड़ कर खतों की बहार थी। बँटे हुए रंगों के महीन-से-महीन फिर क्रमशः मोटे अनेक खतों के बाद बेलकारी का नम्बर था। सोने की दो

मोटी तहरीरों के भीतर नील के दो महीन खत थे। इनकी भीतरी सरहद भी सोने के बारीक खतों-सी की गई थी। इनके बीच में, कोई पौन इंच चौड़ी जगह में, चित्र के चारों गिर्द वह बेल बनी थी कि बढ़िया-बढ़िया मीने का काम उसके आगे झख मारता। सफ़ेद जमीन उसके ऊपर लपेटदार बेल का क्या कहना। जान पड़ता था कि कारीगर ने अपनी विशद कल्पना से भी बढ़ कर काम किया हो। कहीं से जरा टूट नहीं, क्या जमा हुआ हाथ; कलम में क्या तेजी थी!

अहा! इसके भीतर तसवीर थी, उसकी जमीन बिलकुल स्याह। बीच में एक ही छवि थी। एक खड़ी हुई सुन्दरी दाहिने हाथ पर मोती की लड़ धरे बाएँ हाथ से उसका कुछ अंश उठाकर देख रही थी। एक-चश्मी चेहरा था। हाय, हाय, इस पर कारीगर ने क्या काम किया था! भाव और सौन्दर्य फिसले पड़ते। रंगों की तरावट से आंखें शीतल हो जातीं। तार-जैसा स्याह कलम सजीवता के मारे स्पन्दित हो रहा था और परदाज हुबाब-जैसे हल्के थे। कारीगर का हाथ कैसा पुष्ट और तैय्यार था। उसने अपनी कोई कला उठा न रक्खी थी। इतना अच्छा चित्र और कैसी अच्छी हालत में! हाशिये के छोरों पर कीड़े के दो-चार छेद रहे हों तो रहे हों, नहीं तो जान पड़ता था कि चित्रकार अभी तैय्यार करके उठा हो। ऐसा लाभ बड़े ही भाग्य से होता है।

चित्रस्थ सुन्दरी सिर पर गुलेनार पगड़ी दिए हुए थी। इस पर कलँगी झूम रही थी। देह पर ढाके की जामदानी का पैरहन और लाजवर्दी कमखाब का पायजामा था। इन कपड़ों पर तथा आभूषणों पर भी कारीगर ने जो बारीकी खर्च की थी, उसे देख कर आश्चर्य होता था। पैर में जरी के सुन्दर जोड़े थे, जिन्हें देख कर सच्चे जोड़े का भ्रम होता था। सब के ऊपर सुन्दरी हल्के और धूमिल कासनी रंग का

बोरका ओढ़े हुए थी, जो इस समय चेहरे पर से हटा दिया गया था, किन्तु जिससे नीचे से ऊपर तक देह का आधा हिस्सा ढका हुआ था। इसमें से खुली हुई आनितम्ब केश-राशि का जो अंश दीख पड़ता था, उसका बाल-बाल गिन लीजिये। धन्य परिश्रम!

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि चित्रकार ने इस ढंग से चित्र के सब अंशों का संयोजन किया था कि हर तरफ़ से खिच कर और टकराकर निगाह चेहरे ही पर जाय। मन्द रंग का बाहरी हाशिया, फिर सफेद जमीन पर बेलकारी, उसके बाद ही काले रंग की जमीन , तब धूमिल रंग का बोरका और इन सबके भीतर गुलाब-जैसा प्रफुल्ल भावपूर्ण वदन। आप ही कहिये, सब ओर से सिमट कर दृष्टि उस सुन्दर मुख पर आ अटकती है या नहीं। ये बारीकियां भारतीय चित्रकारों ही के हिस्से पड़ी हैं।

३

हां, रात को मैं फिर बैठकर इसी चित्र को देख रहा था। देखे बिना जी ही न मानता था। न उसे रख देने का मन होता था। देखते-देखते मैं तल्लीन हो गया।

❀ ❀ ❀

अब मुझे एक नई खूबी मिली। चित्रकार ने उसमें न जाने कौन-सा अस्तर दिया था कि सब जगह से एक विलक्षण प्रभा निकलती थी। मैं देर तक इसका कारण विचारता रहा। पर कुछ समझ में न आया। यह बात आज तक किसी चित्र में न देखी थी। अन्य चित्रों की क्या चर्चा, अब तक, न जाने क्यों, इसी में न देखी थी। जब हम पति-पत्नी इसको घण्टों देखते रहे थे तब बिना यह विशेषता देखे ही केवल इसकी विलक्षण कारीगरी पर ध्यान देते हुए हम लोगों ने निश्चय किया था

कि यह फर्माियशी काम है और कारीगर को इसका भारी इनाम मिला होगा। लेकिन अब यह खूबी देखकर तो मैं दंग रह गया। मैंने अपने आप से कहा कि ऐसी बेजोड़ विशेषता ने तो मुसव्विर को न जाने क्या इनाम दिलाया होगा। बेशक उस ज़माने के अमीरदिल-गांहक ने उसे मालामाल कर दिया होगा। मैंने बहुत सोचा, पर कुछ अटकल न लगा। मेरा दिमाग चकराने लगा। अन्त को वह चित्र अपने आगे ही रख दिया।

निगाह उठाई तो देखता हूँ कि सामने एक आदमी बैठा हुआ है। मैं सिहर गया। न तो वह मेरा परिचित ही था, न उसकी इत्तला ही हुई थी। फिर वह क्यों और कैसे आया? लेकिन उसकी मूर्ति इतनी शांत और गम्भीर थी कि पलक मारते मेरा भय भाग गया।

वह वृद्ध आदमी था। भव्य मुख पर झुरियां पड़ी हुई थीं। खसखसी डाढ़ी के शायद दो-चार बाल काले रह गए होंगे। उसकी आंखें निष्प्रभ हो गई थीं। उन पर एक धूमिल आवरण-सा दौड़ गया था और उनमें से कहर टपका पड़ता था। सिर पर सफ़ेद पगड़ी थी और तन पर सफ़ेद जामा। कमर में शाल का पटका बँधा हुआ था और एक बड़े जामेवार के भीतर उसके वक्ष और हाथ लीन-से हो रहे थे। वृद्ध को देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती थी, और साथ ही एक प्रकार की करुणा और ममता भी।

आंखें मिलने पर उसने उठकर, बिना जामेवार में से हाथ निकाले ही, झुककर दोनों हाथों से बन्दगी की। बुढ़ापे में जाड़े की रातों में, गर्म कपड़ों से हाथ निकालना ज़रा टेढ़ी खीर है।

मैंने सलाम लेकर उनसे बैठने को कहा। पूछा—"आप कौन हैं, यहां आ कैसे पाये? क्या ड्योढ़ी पर कोई नहीं?"

"जी, होने को तो सभी हैं, पर जब मैं अन्दर आ रहा था तो सभों की

आंख लग गई थी। मैंने दया से उन्हें जगाया नहीं। अगर बिना हुक्म के, आकर मैंने बेअदबी की हो तो चला जाऊँ।"

"नहीं-ीं-ीं। मैं इन कम्बख्त नौकरों को कहता हूँ। जब देखिये, सोया ही करते हैं।"

"लेकिन हुजूर, अब तो रात के बारह बज चुके हैं।"

"खैर; आपने मेरे पहले सवाल का तो जवाब ही न दिया। आप हैं कौन?"

"जी, मैं इसी तसवीर का कारीगर हूँ। आपने खयाल किया होगा कि उसमें एक तरफ़ लिखा है—"अमल-ए-जनारदन'[1]। खादिम वही जनार्दन है।"

यह जान कर मेरी खुशी का कोई ठिकाना न रहा—"बड़े भाग! मैं तो अभी आपको याद ही कर रहा था।"

"तभी तो बन्दा हाजिर भी हुआ।"

बहुत समय शिष्टाचार में न गँवा कर मैंने काम की बातें शुरू कीं। मुझे यह जानने की छटपटी लगी हुई थी कि इस चित्रकार ने और कितने चित्र बनाये और वे कहां प्राप्त हो सकते हैं—"क्यों साहब, आपने किस उम्र में यह तसवीर बनाई थी?"

"उस वक्त मैं कोई ३२ बरस का था—" उन्होंने एक क्षण सोच कर कहा।

१—याने जनार्दन की कृति। दिल्ली-कलम की तसवीरों में अक्सर इस प्रकार अपना नाम लिख देते थे। अमल का अर्थ है—काम, कृति।

"तब तो आपने इसके बाद बहुतेरी तसवीरें बनाई होंगी। शायद अब भी थोड़ा-घना शगल जारी हो।"

"जी वह जिन्दगी के साथ है। लेकिन मेरी और किसी तसवीर में आपको यह खूबी न मिलेगी। मेरी ही पर क्या; इस तसवीर के सिवा तमाम दुनियां में यह जमीन न मिलेगी। मैंने एक खाश अपनी तरकीब से इसमें यह बात पैदा की थी। फिर किसी और तसवीर में इसकी नौबत न आई।"

"तब तो आपको इसके लिए इनाम भी बहुत-कुछ मिला होगा।"

"जी हां।"

"यही तो मैं भी समझता था। अच्छा, अगर नामुनासिब न समझिए तो बता दीजिये कि आपने क्या पाया था। मैं इस तसवीर का बयान एक पर्चे में लिखने वाला हूँ। किसमत से आप ही मिल गये।"

"बेशक बताऊँगा। देखिये, मैंने यह खिलअत पाई थी।"

"बस! इसी को आप बड़ा इनाम कहते हैं? इतना तो मामूली मुसव्विर पाया करते थे।"

"जी नहीं, ५०० मुहरें भी मिली थीं।"

"मुसव्विरों को २००० मुहरें तक मिलने की बात तो मैंने खुद पढ़ी है। तिस पर यह तो ला-जवाब काम है।"

"जी एक हाथी भी पाया था।"

"खैर, वह भी इस काम के लिए कोई चीज नहीं। और कुछ?"

"जी हुजूर, एक छोटी-सी जागीर भी मिली थी।"

"बस! अजी इस काम के लिए तो इतना देना चाहिए था कि जो कहावत हो जाती।"

"घबराते क्यों हैं, वह भी मिला है, सब बताता हूँ।"

"तो बताते क्यों नहीं! बुढ़ापे से आपका जेहन कुछ कुन्द तो नहीं हो गया?"—मुझे जल्दी सब बात न बताई जाने के कारण कुछ क्रोध आ चला था।

जनार्दन ने ठँढक के साथ कहा—"हुजूर गर्म न हों। बताने से क्या फ़ायदा? दिखाये ही देता हूँ।"

बूढ़ा चित्रकार जामेवार में से अपने हाथ निकालने लगा। मुझे दुःख हुआ कि उसे जाड़े में मेरे कारण यह कष्ट करना पड़ा।

"देखिये—और यह इनाम मिला था।"

"एं!"—कह कर मैं चौंक पड़ा। कलाई तक उसके दोनों हाथ कटे हुए थे। किन्तु उसके मुख पर कोई रेखा न थी—"चौंकिये मत। हैरतनाक बात तो अब आती है। आपने आमतौर पर कारीगरों के हाथ कलम किये जाने की कहावत सुनी होगी। मेरा हाथ उसी तौर पर न कटा था। इसका एक बड़ा अजीब किस्सा है। लेकिन उसे सुनाने के पेश्तर उसका हाल सुनाना जरूरी है जिसकी यह शबीह है।"

"मैं तो आप, यह सब जानना चाहता हूँ।"

❋ ❋ ❋

अकाण्ड में यह काण्ड समाप्त हुआ। अँगड़ाई लेते हुए मैंने देखा कि वह तसवीर, क्या जाने कब की मेरे हाथ से छूट कर, मेरे सामने पड़ी हुई है। शमादान की बत्ती समाप्त होने पर है और मेरा खवास, हरचरन पांव दबा कर मुझे जगा चुका है। मुझे उस पर बड़ा क्रोध आया।

❋ ❋ ❋

उस दिन से आज तक अनेकों स्वप्न देख डाले। उनसे मुझे कितना आनन्द मिला है, सो उस मयूर से पूछिये जो प्रतिक्षण परिवर्तनशीला वर्षा दृश्यपटी को देख-देख कर नये-नये नाच नाचा करता है। पर; उस स्वप्न-सा कोई स्वप्न न दीख पड़ा।

यह भी सम्भव है कि मैंने उससे बढ़ कर स्वप्न देखे हों। पर न जाने क्यों, मेरा मन वही देखने को लालायित हो रहा है।

आज भी वह उपसंहार सुनने की इच्छा ज्यों-की-त्यों ही बनी है? ज्यों-की-त्यों क्या, दिन-दिन, बलवती होती जाती है।

कल्पना

१

मैं कल्पना करने लगा—

"कोई डेढ़-सौ वर्ष पहले एक झंझनाता इक्का शिवपुर के आगे-वाले तालाब पर रुका। मेरे वर्तमान जन्म से चार जन्म पहले की बात है—उस पर एक मित्र के संग मैं सवार था। उस समय शिवपुर एक गांव था। आजकल-जैसी चहल-पहल की, कहीं पर, परछाईं भी नसीब न थी। तो भी वह कोई जंगल न था। गांव के चारों ओर दूर-दूर तक अमराइयां फैली हुई थीं। कई पक्के तालाब भी थे। पर काशी के लोगों को यही तालाब बहुत प्रिय था। हम दोनों वहां हवा खाने गए थे, और भी कितने ही इक्के खुले हुए थे।

"सड़क से कोई सौ कदम पर वह सुन्दर पक्का तालाब था, जिसकी प्रेतात्मा का दर्शन आज भी आप वहां कर सकते हैं। उसके चारों ओर सौ-दो-सौ कदम तक मैदान था। वहां गायें चरा करतीं। बाद, टीलों पर सुन्दर अमराइयां थीं। तालाब के पूर्व किनारे पर, जहां से सीढ़ियों की लम्बी दौड़ पानी की ओर चलती थी, एक सुन्दर शिव-मन्दिर था। यह अब भूमिसात् होकर अपना अस्तित्व पृथ्वी के आंचल में चढ़ा रहा है। और इस पर का वह सुन्दर वट-वृक्ष, जिसकी शोभा देखने में मैं घण्टों बिता देता था और जो उस मंदिर के मुकुट पर नीलातपत्र का काम देता था, आज सिर पर हाथ रक्खे रोते हुए बूढ़े-जैसा दीख रहा है।

"पास ही एक कुआं था। अब वह मड़ार हो गया है। काल के विकराल डाढ़ों के अनेक चिह्न उस पर लगे हुए हैं। वहीं हम लोगों की भंग घुटने लगी। इस सब से निवृत्त होकर हम लोग तालाब-किनारे पहुँचे। वहां अच्छा जमघट था। कोई नहा रहे थे, कोई वस्त्र को पछाड़ते हुए बार-बार उठा कर उसकी सफ़ाई देख रहे थे, कोई स्नान-आदि से निश्चिन्त होकर बैठे थे। किसी की स्नान की तैय्यारी थी, पर चुप कोई न था। सब गप्पाष्टक कर रहे थे। प्रधान चर्चा अन्न की गिरानी की थी। काशी में पहली बार ५७ सेर का गेहूं बिका था। भाव में एकदम १३ सेर की कमी कोई साधारण बात न थी। इसी प्रसंग में अनेक कथा, उपकथा, क्षेपक, परिशिष्ट लग रहे थे। उन दिनों साह नवलदास काशी के नगर-सेठ और परम दाता थे। बीच-बीच में उनकी उदारता की प्रशंसा और किसी किसी के मुंह से निन्दा भी सुनी जाती थी। काशी का यह बुढ़िया-पुराण, समय के बदल जाने पर भी, आज भी ज्यों-का-त्यों बना है, बल्कि कुछ विकसित ही हुआ है।

"हम लोगों का उस मण्डली ने आनन्द-पूर्वक स्वागत किया। सभी जान-पहचान के थे। तालाब का पन्ने-जैसा पानी अपने तटस्थ वट की हरियाली से होड़ कर रहा था। हृदय में आनन्द से होने वाली गुदगुदी की तरह उसमें मन्द लहरियां उठ रही थीं।

हम लोग अपनी धोतियों पर 'साफ़ा[1]' देने लगे। संध्या के प्रवेश के साथ पानी की नीलिमा बढ़ने लगी। सामने के गऊघाट पर पानी पीने को उतरती गायों के खुरों की खटखट से तालाब प्रतिध्वनित होने लगा।

१—धोती या अँगोछे को किसी साफ़ चिकने पत्थर पर, सफ़ाई के लिए देर तक पछाड़ने को 'साफ़ा देना' या 'पुट लगाना' कहते हैं। जो ऐसा करे, वह पुट-वा साफ़ेबाज़।

किन्तु जब तक सन्ध्या की उदासी फैले-फैले तब तक पूर्व से निशानाथ निकल आये। शारदीय पूर्णिमा थी। आज की चन्द्र-श्री अपूर्व होती है। कोई अचरज नहीं जो कृष्ण ने—

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभंनवकुंकुमारुणम्।
वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जित
ञ्जगौ कलं वामदृशाम्मनोहरम्।।

"थोड़ी ही देर में, तालाब में चांदी लहराने लगी। हम लोगों की धोतियाँ सूख चली थीं। अब नहाने की बारी आई। मैं पास के खुले बुर्ज से धड़ाम् से पानी में कूद पड़ा। मेरे मित्र सीढ़ियों से उतरे थे, वे भी तैर कर मेरे पास आ गये। हम दोनों देर तक जल-क्रीड़ा करते रहे, फिर बाहर निकलने की तैय्यारी हुई। मैं पानी में की एक सीढ़ी पर चढ़ा था कि मेरे बाएँ पैर की नली में जोर से ठोकर लगी; सीढ़ी पर कोई चीज पड़ी थी। वहां कन्धे तक पानी था। ठोकर जोर की लगी थी क्योंकि मैं तेजी से ऊपर आ रहा था। मैंने कहा—अरे! यहां बड़े-बड़े 'साफ़ेबाज' आते हैं, किन्तु कोई यह ठोकर नहीं हटाता। क्या-क्या अहदी लोग हैं!

"अपने मित्र को मैंने ठोकर का हाल बतलाया।"

"घाट पर से एक साहब बोल उठे—'का, साहेब, साफावाजन में तूं नाहीं हौ। काहे अउरन के बदनाम कर थौ[1]।'

१—बनारस के पक्के मुहल्लों की बोली। हिन्दी में—'क्या साहब, साफ़ेबाजों में तुम नहीं हो। क्यों औरों को बदनाम करते हो।'

'बदनाम ए वस्ते करी थै कि सब एके निकसतें काहें नाहीं! आज एके निकासना है[1]।'

"मैंने पैर से टटोल कर देखा कि वह पत्थर का एक चिकना ढोंका था।

"तब मैंने उपस्थित मण्डली से कहा—'जरा आप लोग मदत करो तो एके[2] निकासा जाय। बड़ा चिकना पत्थर है, पुट[3] देवै काबिल है। तीन-चार-ठे रस्सी मिलाय के एमें[4] बांधी जाय तो सहज में ऊपर खिंच आवै।'

"उस पत्थर को 'पुट देवै काबिल' जान सब अपने अपने लोटों की रस्सियां जुटाने लगे। वे एक में बटी गईं और मैंने गोता लगा कर उस काम-चलाऊ रस्से को पत्थर में बांधा। कई जन ऊपर से उसे खींचने लगे और हम दोनों डुबकी लगाकर उसे ठेलने। पांच मिनट के भीतर ही वह कमर-भर पानी में आ गया। तब हम दोनों सहज ही में उसे उठा कर ऊपर लाये। उस समय नगर में बहुत ही कम लोग ऐसे थे जो कसरत-कुश्ती न करते रहे हों। बाहर देखने पर मालूम हुआ कि वह शिला कोई मूर्ति है, जो पानी में उलटी पड़ी थी। हम लोगों ने उसे सीधा रख कर धोना प्रारम्भ किया।

"थोड़ी देर में जब उसकी मिट्टी-कींचड़ साफ़ हो गई और पानी से धुली हुई और तर मूर्ति के मुख पर चन्द्र-ज्योत्स्ना खेलने लगी, तब उसकी शोभा देख कर सारी मण्डली अवाक् रह गई।

१—हिन्दी में—'बदनाम इस वास्ते करते हैं कि सब लोग इसको निकालते क्यों नहीं। आज इसे निकालना है।' २—इसको। ३—देखिये ८८ वें पृष्ठ का नोट नम्बर १। ४—इसमें।

"शारदा की क्या दिव्य मूर्ति थी। सब मुग्ध हो गए। कई ने कहा कि उसे वट के नीचे रख देना चाहिए।

"मैंने कहा कि पागल तो नहीं हो गए हो? भला, उन खण्डित मूर्तियों और टूटे-फूटे पत्थरों में माता की जगह है! आज शरद के दिन शारदा जी ने स्वयं दर्शन दिया है, उस मौलसरी के नीचे इनकी प्रतिष्ठा होगी।

"तालाब के पश्चिमी घाट पर बकुल के जोड़े लगे थे।"

"मन्दिर बन गया और प्रतिष्ठा भी हो गई। मेरा वहां तीसरे पहर जाना भी होने लगा। घर के लोग भी वहां प्रति पूर्णिमा जाया करते। श्रद्धा से पूजा होती। जब से यह मन्दिर बना था, मेरी सब प्रकार उन्नति थी।

"मेरी पत्नी सुभद्रा, घण्टों तक भगवती का मुंह निहारा करती और बार-बार यही उलहना देती कि इन्हें घर क्यों न पधराया।"

२

मैं अपने बारामदे में आराम-कुर्सी पर लेटा था। मेरे सामने ही तकियों के सहारे वह मूर्ति धरी थी। गुलदाउदी के फूल उसे चारों ओर से घेरे हुए थे। मैं बिना रुके हुए कहता गया—

"अब डेढ़-सौ वर्ष बाद मैंने उस मन्दिर को खँड़हर पाया। तुमने फिर पृथ्वी में अपना मुंह छिपा लिया था। हरी घास तुम्हारे लिए चादर बनी हुई थी। मैंने एक बार फिर तुम्हारा उद्धार किया। इस बार मेरी पत्नी को तुम्हें घर से दूर रखने का उलाहना न देना पड़ेगा।

उस बार तुमने मन्दिर में बैठ कर मेरा कल्याण किया था, इस बार इन सुन्दर फूलों के तले से..........."

मैंने एक बार साभिलाष नयन से उस मुख-श्री की ओर देखा। हृदय हरा हो उठा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उस मूर्ति का सहज सस्मित मुख और भी मुस्करा रहा है। उससे एक दिव्य प्रभा आलोकित हो रही है। और यद्यपि उसने मुंह नहीं खोला था, तो भी वह मुझसे पूछ रही थी—

"परन्तु तुम इसे अपनी कल्पना क्यों मान बैठे हो ?"

समदु:खिनी

उद्दीपन

सीधी रेखाओं में नर्तकियां हट-बढ़ रही थीं। अपने प्रभु को प्रसन्न करने के लिए अपने सुख का बलिदान कर रही थीं। कितना परिश्रम उठा रही थीं। किन्तु एक नर्तकी की न जाने किस चेष्टा पर उसकी संगिनी ने कनखियों से मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट में वासना कूट-कूट कर भरी थी।

नृत्य बन्द हुआ। मद्य-विघूर्णित सम्राट् को परिचारकों ने शयनागार में पहुँचा दिया। इतने बड़े सम्राट् मदिरा का ग्रास बने अपने पलंग पर पड़े हुए थे।

राजमहिषी ने आकर उन्हें जगाया, बार-बार जगाया, पर कौन सुनता है?

"हा, नाथ ! आज फिर वही दृश्य ! अब मुझे कोई आशा नहीं--" पलंग की पाटी में सिर गड़ाकर वह जोर-जोर से रोने लगीं। थोड़ी देर में उन्हें निद्रा ने सुला दिया।

दबी आँच

जो नर्तकियां अपनी कला से स्वर्ग-सुख का अनुभव कराती हैं, एक अलौकिक प्रान्तर में ला खड़ा करती हैं, उनका जीवन देखिए--रहन-सहन देखिए तो कैसा नारकीय है। वह संसार ही अलग है।

सारे विश्व से अलग ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरे हुए स्थानों में सम्राट् ने उन्हें, मानों स्वर्ग में रक्खा है। पर उनके हृदय में तो नरकाग्नि

भड़क रही है । वह उस अवरोध में और भी प्रवलता धारण करती है। क्या ऊधम सभों ने मचा रक्खा है! हे राम ! मनुष्य थोड़े-से सुख के लिए कितनों का जीवन केन्द्र-च्युत कर देता है । भगवन् ! वह स्वतंत्रता किसी को न दो जो दूसरों की परतन्त्रता का कारण हो ।

तरला ने सरला से पूछा—"तू क्या हँसी थी री ?"

"पगली, मैं हँसी थी ?"

"तब नहीं तो क्या ?"

"अरी तू सरला नहीं गरला है !"

फिर वही हँसी । तरला के हृदय में बिजली-सी दौड़ गई। उन्मुक्त पवन के लिए तबीअत तड़प उठी। पुराने दिन याद आगये। वासना की आंच बड़ी तेजी से, धू-धू-धू करके जल उठी। जल क्या उठी, जलती तो थी ही—बहुत वेगवती हो उठी। सम्मुख स्वतन्त्र जीवन के चित्र खिंच उठे—

दृश्य-दृश्यान्तर

.. एक छोटी-सी टेकरी पर एक किसान की कन्या बैठी गाएँ चराया करती। उस टेकरी पर एक ही वृक्ष था, उसे किसी ने लगाया न था। न जाने कहां से उड़ता-उड़ाता एक मन्दार-बीज वहां आ पड़ा था । वही धीरे-धीरे छतनार वृक्ष हो उठा था। समय-समय पर फूलों से लद जाया करता। स्वतन्त्रता की पेंगें मारता । अपने हृदय-गीत गुनगुनाया करता। किसान-बालिका भी उसके संग अपने भोले-भाले गीत गाती । कोई चिन्ता न थी। आधे दिन चर के गाएँ उस वृक्ष की छांह में जुगाली करतीं। वह भी उन्हीं का आश्रय लेकर सो जाया करती। हिमालय-पवन आता—उसके बालों से, वस्त्र से खेलता, उसकी त्वचा पर लाली

दौड़ाता, पर निर्बोध बालिका कुछ और ही स्वप्न देखा करती। धीरे-धीरे यह परदा उठने लगा। उसके पीछे एक दूसरी दृश्यपटी का कुछ अंश दिखाई पड़ने लगा। अभी उस दृश्य पर इस उठते हुए परदे की छाया पड़ रही थी, इससे उसमें अपूर्व शीतलता और स्निग्धता जान पड़ती थी। पर ज्यों-ज्यों, यह दृश्य ऊपर उठता गया, ज्यों-ज्यों, ऊषा के आलोक को सूर्य्य दबाता गया, त्यों-त्यों, उसकी प्रखर रश्मियों से वह कुमारी विकल हो उठी। किन्तु दोपहर का ताप भी न रह गया। तीसरा पहर आया। निर्बोध बालिका ने समझा कि फिर पहले के दृश्य आ पहुँचे। संध्या की पटी ज्यों-ज्यों उस दृश्य के आगे लटकने लगी, त्यों-त्यों वह यही समझने लगी कि वह फिर अपने अरुण-लोक में पहुँचा चाहती है। पर उसे यह बोध न था कि जिस तरह एक दिन उस परदे ने उठकर प्रखर ताप उपस्थित किया था, उसी प्रकार यह परदा गिर कर और भी रौद्रकाल उपस्थित करेगा। रात आई। उसने अपनी काली डाढ़ों के भीतर उस अबला को दबा लिया। परन्तु उन विकट डाढ़ों के लिए यह इतना छोटा ग्रास था कि वह इसे कवलित न कर सका। धीरे-धीरे यह उसके उदरस्थ हुई।

वहीं, अवरोधों के भीतर, आज वह अपने जीवन का सिंहावलोकन कर रही है।

प्रवेश

"छोकरी! मैं इस मंदार के फूल लोढ़ सकता हूँ?"

बेचारी तरला घबरा उठी। पेड़ पर उसका कौन अधिकार! वहां वह बे रोक-टोक बैठने पाती है, यही बड़ी बात है। फिर, ऐसा शुभ्र-वसन सुन्दर युवा उसकी आज्ञा चाहता है! यह तो कोई राजा जान पड़ता है। इसे आज्ञा की कौन आवश्यकता है?

"प्रभु, आप मुझसे क्या पूछते हैं? मुझे तो इस पेड़ पर केवल यही अधिकार है कि मैं इसकी छाया में बे-रोक-टोक बैठ सकती हूँ।"

"ठीक है। मैं तो केवल यही जानना चाहता था कि मुझे कोई रोकेगा तो नहीं।"

"महाराज! भला आपको कौन रोकनेवाला है!"

अश्वारोही थोड़े-से फूल लेकर चलता हुआ। तरला अक्षुण्ण नयनों से उसका मुंह देख रही थी। फिर घोड़े की चाल देखती रही। थोड़ी देर में वह भी ओझल हो गया।

दूसरे दिन फिर उसी समय वह युवक आया। आज उसने एक अँजली फूल लिए। फूल अँजली के बाहर गिरने लगे। उसने तरला से कहा—

"सखि! तनिक इन फूलों को अँजली में तो रख दो।"

तरला ने वैसा ही किया। जब तरला फूल रख रही थी, युवक ने उससे चार-आंखें करके कहा—"तुम्हारे हाथ तो बड़े गोरे हैं। देखो, मेरे हाथ से वे कितने स्वच्छ हैं।" तरला ज़रा-सा कांप उठी; फूल रखकर फिर सरल दृष्टि से वह मुख देखने लगी।

"तुम यहां की देवी हो। ये फूल तुम्हें ही अर्पित हैं।" युवक ने फूलों की अँजली उसी पर बरसा दी और मुस्कराता हुआ चल दिया। तरला को बड़ा कुतूहल हुआ।

घात-प्रतिघात

तीसरे दिन युवक फिर आया। घोड़े ही पर से साह्लाद पुकार उठा—"मन्दारतलवासिनी, भगवती, प्रणाम!"

तरला को बड़ी लज्जा आई। उसने सिर नीचा कर लिया। अभी उसने सिर ऊँचा न किया था कि अश्वारोही उसके पास पहुँच गया। उसके आगे हाथ बांधे घुटनों के बल बैठ कर उसने कहा—"कुमारी, सिर ऊँचा करो। तुम्हें यह नहीं मालूम कि तुम कितनी सुन्दरी हो? जिया तुम्हारा मुंह देखने में बेचैन हो रहा हूँ।" तरला लज्जा से गड़ गई। युवक ने उसके चिबुक पर हाथ रख कर, उसका मुंह ऊँचा किया। तरला के रोम खड़े हो गये। उसका रक्त तेजी से दौड़ने लगा।

सुन्दरी, क्या तुम मेरी बात झूठ समझती हो?"

तरला की आंखें नीची ही थीं।

"न एतबार हो तो अपनी प्रतिकृति मेरी पुतलियों में देख लो" तरला ने कुछ ध्यान न दिया, किन्तु युवक उससे गिड़गिड़ा कर विनय करने लगा। तरला ने जी कड़ा करके एक निगाह, युवा की पुतलियों में, अपनी छाया देख ली।

किसान-कन्या ने हजारों बार जलाशयों में अपना मुंह देखा है। लेकिन पहले कभी, उसने अपने में ऐसा रूप न पाया था। यही नहीं, युवक भी उसे अतुल रूप वाला जान पड़ा—उससे कहीं अधिक रूपशाली। उसे धोखा हुआ कि यह कोई देवता तो नहीं। उसकी देह-यष्टि कांप उठी।

युवक ने कहा—"सुन्दरी, मैं इतने सुन्दर गुलाब को चूमे बिना नहीं रह सकता।" उत्तर की प्रतीक्षा न करके, युवक ने अपने होठ उसके ओठों पर रख दिये। तरला के अधर भी आप-से-आप, उनके स्वागत के लिए आगे बढ़ आये थे।

युवती पसीने-पसीने हो उठी। उसे मालूम हुआ कि उसने कोई मदिरा मादक पी लिया हो। वह मूर्छित-सी हो पड़ी। प्रकृतिस्थ होने

पर उसने युवक का कोई पता न पाया। अब तरला को चारों ओर सूना जान पड़ने लगा।

उस चुम्बन ने, उस एक चुम्बन ने—कुमारी को ऐसा प्रतीत हुआ—उसका सर्वनाश कर डाला। उसने अपने को धो बहाया। उसे चारों ओर प्रलय के दृश्य दीखने लगे—आकाश एक बड़ी भारी भट्ठी-सा प्रतीत हुआ। मन्दार-वृक्ष कांटों की झाड़ी बन गया। पृथ्वी किसी विशाल राक्षसी का उदर थी। उसके बीच में उसने अपने को असहाय पाया। उसे यही मालूम होता कि अब उसके लिए संसार में कोई स्थान नहीं। अब वह किसी को मुंह दिखाने योग्य नहीं। उसने आपही अपने को मिट्टी में मिला दिया—धूल में फेंक दिया। किसी भारी आंधी में एक पत्ती की तरह वह उड़ती-पुड़ती चली जा रही है।

वह रोने लगी। उसका आर्त्तनाद सुन कर गायें अपने अर्ध कवलित ग्रास छोड़कर उसकी ओर देखने लगीं। थोड़ी देर म वह सो गई। यदि ब्रह्माण्ड में सहानुभूति कोई वस्तु है, तो निद्रे! वह तू है।

स्वप्न

धीरे-धीरे तरला के सामने एक नया जगत् प्रस्फुटित होने लगा—

वह एक पथिक है। नारी नहीं, नर। एक जंगल में कहीं से चली आ रही है। जंगल गझिन है, हरा है। वृक्ष सब सुन्दर हैं, कहीं कँटीली झाड़ियां नहीं। वृक्षों के आश्रय में तरह-तरह के पक्षी आनन्द कर रहे हैं। कहीं-कहीं वन्य पक्षी चुंग रहे हैं। वे इसकी आहट पाते ही, जरा-सा रव कर के उड़ जाते हैं। बीच में पगडन्डी है। वह ऐसी साफ़ है कि अभी बुहारी गयी हो। कहीं-कहीं तनिक ऊँचे भूमि-खण्ड हैं, उन पर शायद वनदेवता क्रीड़ा करते हों। सामने ही एक ऐसा प्राकृतिक चबूतरा था। तरला

उस पर विश्राम के लिए बैठ गई। पास ही एक वृक्ष था । वह ऊँचा न गया था। जड़ से ही उसकी डालें छतनार होकर, दूर-दूर तक पृथ्वी से सट कर ही फैली थीं। उसी पर उसने अपनी गठरी रख दी; वहीं घास पर बैठ गई। कैसी स्वच्छ घास थी। प्रकृति रोज उसे सँवारती होगी। बीच-बीच में पीली मिट्टी की जमीन भी दीख पड़ती थी। तरला निरुद्देश उन भूमि-खण्डों को देखने लगी।

थोड़ी देर में उसने जाना कि वह मिट्टी नहीं, सोना है। अपनी यात्रा भूल कर वह उसे बटोरने लगी। उसमें असीम बल आ गया। वहां का सब सोना थोड़ी देर में उसने बटोर लिया। अब वह उसी उच्च भूमि पर आगे बढ़ी। बराबर सोना मिलता जाता था और वह बटोरती जाती थी। इस तरह कोसों चली गई, तब उसे कुछ बोझ मालूम हुआ और बोध भी हुआ कि वह रास्ता भूल गई। अन्धकार होने ही को था। वह कुछ घबरा उठी। पीछे फिर कर देखा तो सूर्य अस्त हो रहे थे। उनका रक्तिम तेज सारे वन पर फैला हुआ था। सब वन सोने-का-सा जान पड़ा। क्रमशः तेज बढ़ चला और वह स्थान वास्तव में बिलकुल सोने का हो उठा। अरे! वह तो बड़ा भारी स्वर्ण-प्रासाद है । तरला, बल्कि यों कहिए कि तरल-कुमार उसकी सीढ़ियों पर खड़े हैं। सीढ़ियों के नीचे एक बड़ा रम्य पुष्प-वन है । उसमें चारों ओर अलसी फूली हुई है। सिवा अलसी के फूल के और कुछ नहीं दीख पड़ता है। हां, कहीं-कहीं अशोक भी लाल चादर में मुंह ढांपे खड़े हैं।

बे-अख्तियार जी चाहा कि चलिये, इस पुष्पवाटिका की सैर कीजिये। वह धीरे-धीरे सीढ़ियां उतरने लगी। अन्तिम सीढ़ी से मिला हुआ एक सरोवर था। तरला को प्यास मालूम हुई। वह पानी के लिए झुकी। इसमें, उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा। अरे! वह तो और कोई नहीं, वही तीन

दिन से आने वाला अश्वारोही है । फिर वह अपने को क्यों इतना धिक्कार रही थी—उसने स्वयं अपने ही को चूमा था। तरला ने फिर अपने प्रतिबिम्ब को पानी में चूम लिया। तब खिलखिलाकर हँसती हुई वह पुष्प-वन में चली। जैसे पहले उसने सोना बटोरा था, इस बार फूल बटोरने लगी। क्रमशः उसकी झोली भर गई। संध्या भी होने लगी। अलसी के फूल अलकसाने लगे । उसके देखते-देखते सब फूल सम्पुटित हो चले। उसने मन में सोचा कि इनमें से एक पुष्प में बन्द होकर देखना चाहिए कि किस लोक की सैर होती है। वह बैठ गई। थोड़ी देर में, पुष्प बन्द होने पर चारों ओर अन्धकार हो उठा। तरला ने डर से आंख मूंद लीं। कई क्षणों में उसे यह जान पड़ा कि कोई उसकी पलकें खोल रहा है। उसने आंखें खोल दीं। उसकी पलक खोलनेवाला और कोई नहीं, तरला ही थी, क्योंकि इस स्वप्न-संसार में, प्रकृत तरला तो अश्वारोही का अभिनय कर रही थी।

सामने एक विशाल वटवृक्ष था । एक वेगवती नदी उमड़ कर बह रही थी। वट अपनी शाखायें उसी प्रवाह में हिलोर रहा था। तरला ने अश्वारोही से कहा—"सखे! चलो जरा इसकी डाल पर बैठें। इस समय वहां से प्रभात-श्री देखें।" दोनों हँसते-कूदते वट पर चढ़े। वट की एक डाल प्रबलगामिनी स्रोतस्विनी के ऊपर ही थी। उस पर दोनों बैठ गये। वहां से पैर लटकाने पर, पानी छू जाता था। दोनों पानी में पैर हिलाने लगे, खेलने लगे, चुम्बन लेने-देने लगे । बाल-सूर्य की किरणें उस पानी में, उनके पैरों के चारों ओर हजार-हजार कावे काटने लगीं। प्रभात-पवन उनके उत्तरीय नचाने लगा—बातें करने लगा—थपकियां देने लगा। सूर्य और ऊपर उठा, रक्तिम से उज्ज्वल हुआ। उज्ज्वल से प्रकाशहीन होकर क्रमशः शरद्घन बन गया। जोर-जोर से पवन चलने लगा। उसने उसे खण्ड-खण्ड कर के आकाश-भर में फैला दिया। आकाश

की नीलिमा मिल जाने से, वह बहुत काला घटाटोप हो गया, प्रलयंकर वर्षा होने लगी। नदी की तरंगें इनके घुटने चूमने लगीं। तरला चिल्ला कर मूर्छित हो गई और इस अश्वारोही की गोद में गिर पड़ी। इतना अन्धकार हो गया कि आंख को हाथ न सूझता था।

किन्तु इतने अन्धकार में भी नदी में से किसी अदृश्य रमणी का एक सुन्दर हाथ निकला, जिसकी हीरे की चूड़ियों की आभा से वहां एक दीप-सा बलने लगा। वह हाथ अश्वारोही की ओर बढ़ रहा था। उसने भी उसका स्वागत करने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। किन्तु, ज्योंही यह हाथ उसके पास पहुँचा, त्योंही वह मगर का भयंकर मुंह हो उठा। उसके विकट डाढ़ चमक रहे थे। अश्वारोही सिहर उठा। उसने गोदी में पड़ी मूर्छित तरला पर दृष्टि डाली। पर वहां तरला कहां। अरे! यह क्या!! अब तो—स्वयं वही तरला है।

मगर ज्यों का त्यों मुंह खोले हुए उसे निगलने को उचक रहा है। चारों ओर विकट अन्धकार है। तरला को उस वक्त जल्दी में यही सूझ पड़ा कि वह ऊपर की डाल पकड़ कर उस पर जाकर प्राण बचावे। उसे टटोलने के लिए उसने हाथ ऊँचा किया, तो डाल के बदले कोई नरम चिकनी चीज मिली। जो उसने सिर ऊपर किया तो डाल के बदले एक विषधर सर्प लटक रहा था। उसकी अंगारे-जैसी लाल आंखें उसका हृदय जलाने लगीं। असमंजस में पड़ कर तरला ने पीछे भागना चाहा। पर विकट विपत्ति! पीछे एक बाघ अपनी उल्का-जैसी आंखों से उसे घूर रहा था। उसने इसे देखते ही गुर्राना शुरू किया। तरला अब अपने को न सँभाल सकी। मारे भय के उसके प्राण उड़ गये, पैर लड़खड़ा उठे। उसके हृदय से एक चीख निकली, पर कण्ठ के बाहर शुष्कता-वश निर्गत

न हो सकी। इसी समय मगर ने उचक कर उसका अँचल पकड़ लिया और वह सट् से उसके मुँह में चली गई।

यहीं, तरला की आंख खुली। उसने कई घंटे तक यह दुःस्वप्न देखा था। अब दिन का तीसरा पहर था। गायें चर कर लौट आई थीं। उनमें से एक उसका वस्त्र मुंह से खींच रही थी। उस प्रशस्त दिन के प्रकाश में भी, वह अब तक डर के मारे कांप रही थी। वे ही दृश्य उसके आगे घूम रहे थे। उसे प्रकृतिस्थ होने में कुछ समय लगा। तब सिर नीचा किए हुए, क्या जाने किन-किन विचारों में डूबती-उतराती, वह घर पहुँची। उसका मुंह बिलकुल पीला पड़ गया था।

आज तरला बिना खाये ही सो रही।

तदनन्तर

तीसरे दिन इतना बुरा अनुभव होने पर भी चौथे दिन जब युवक के आने का समय हुआ, तब तरला का हृदय चंचल होने लगा। वह सब कुछ भूल चली। पथ की ओर उसकी टकटकी बँध गई। पर समय बीत चला। आने वाला न आया। तरला तड़फड़ा कर टहलने लगी। जब समय बिलकुल ही बीत गया, तब वह रोने लगी। संध्या को घर लौटने तक उसका रोना न रुका। घर में उसने बड़ी कठिनता से रोना रोक पाया।

आज से तरला के सारे आत्मिक बल का उपयोग अपने भावों को छिपाने में होने लगा।

पांचवें दिन अपने कर-पुट पर मुंह रख कर तरला फिर मार्ग देखने लगी। उसकी आंखें लाल हो रही थीं। मुंह झांवरा। आज उसका भाग्योदय हुआ। अज्ञात के आ जाने पर, वह अपने को, यह पूछने से न रोक सकी—

समदुःखिनी

"कल क्यों नहीं आए?"

❀ ❀ ❀

क्रमशः तरला के जीवन में यह दिन उपस्थित हो गया। वही सरला बालिका आज कैसी जघन्य-हृदया, परम विदग्धा नर्त्तकी हो उठी है। आत्म-भाव-गोपन के योग में वह आज सिद्ध हो चुकी है। किस असूर्य लोक में वह घूमती है! उन लोगों का एक अलग ही संसार है। तो भी उसकी आत्मा उन दिनों के लिए तड़फड़ाती है, पिंजड़े में टकराती है।

प्रबोधन

"आह, प्रिये, तुम यहां क्यों सोई हो!"

जिस, उतरती रात के शीतल पवन-द्वारा अपनी यक्षिणी को जगाने का आदेश मेघदूत के विरही यक्ष ने मेघ को किया था, उसी पवन ने सम्राट् का नशा उतारा। वे अपने पलँग पर तकिये के सहारे जम्हाई और अँगड़ाई लेने लगे। उनकी निगाह पायँते पड़ी हुई महिषी पर पड़ी। तब वे उक्त वाक्य कह कर उन्हें जगाने लगे। मारे देह-पीड़ा और आलस्य के उनसे झुका न जाता था।

महिषी ने आंखें खोलीं। प्राणेश की यह दशा देख कर उनकी भृकुटी चढ़ गई। उन्होंने रुखाई से कहा—"हाय नाथ! क्या आप इस रांड़ को न छोड़ेंगे? हाय! इसने हमारे-आप के बीच कितनी दूरी डाल दी है! महाराज, तनिक अपनी दशा तो देखिये। मदिरा विलास की सामग्री अवश्य है; वह हमारे राज-ऐश्वर्यों में है। किन्तु कब तक? जब तक वह स्वयं भोक्ता न बन जाय—वह अपने आस्वादन करने वाले को अपना क्रीड़ा-मृग न बना ले। आह नाथ! इसे छोड़ने में ही हमारा कल्याण है। आः! सपत्नी!!"

"महिषी ! ऐसे कटु-वाक्य न कहो !"

महिषी तन कर खड़ी हो गईं । जान पड़ने लगा कि वह शासिका है । राजाधिराज उसके क्रीतदास ।

"प्राणोपमे ! तुम्हारी यह अदा जान लिये लेती है । लाओ, इन्हीं हाथों से मुझे एक घूंट पिला दो ।"

"महाराज, इस दासी से ऐसी आज्ञा न कीजिये । एक दिन वह था जब मैं आपको पिलाती थी, आप मुझे । किन्तु उस समय यह हमारे विलास का उद्दीपन थी । इसके द्वारा मेरा आसन न छीना गया था । आप इसी के न हो गये थे । देख लीजियेगा, यदि आपने इसे न छोड़ा तो मैं एक न एक दिन आपको सदा के लिए छोड़ कर चल दूंगी ।" बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये, पैर पटकती हुई वह वेग से उस कमरे से चली गई ।

एक चेटी पान-पात्र लिए ऊँघ रही थी । वह ये बातें सुन कर सजग हो गई थी । सम्राट् किञ्चित् विरक्त हो उठे थे । "कोकिले"—उन्होंने रुद्ध कण्ठ से कहा—"शीघ्र इस अमृत से मेरा हृदय सींच । इन विषाक्त वाक्य-बाणों के चोट की दवा कर ।"

प्याला भर कर, इठलाती हुई कोकिला उनके सामने उपस्थित हुई । सम्राट् ने उसका हाथ पकड़ लिया—"कोकिले, मुझे तुझ-जैसा और कोई भी प्रिय नहीं । प्रमदे ! तू मेरे हृदय की पटरानी है ।"

"देव, ये बातें रहने दीजिये ।" उसने इतरा कर कहा । वह अपना हाथ छुड़ाने लगी । मणि-चषक खाली करके मस्त सम्राट् उस पर भूरि-भूरि अपनी प्रेम-वर्षा करने लगे ।

मुक्ति

आज फिर यथासमय राग-रंग का समाज जुड़ा ।

पहले गायक ताल-स्वर के साथ महाराज की बिरुदावली आलापने लगे। उन गीतों में अपने को त्रिलोकाधीश की पदवी पाते सुन, सम्राट् उसी तरह फूल रहे थे, जैसे कोई साधारण धनिक 'राजा' कहे जाने पर गर्वित हो उठता है। क्या संसार की लीला है! क्या अहंकार का खेल!

गाने के बाद नृत्य शुरू हुआ। शराब का दौर भी जारी था। सम्राट् बार-बार महिषी के मुंह के पास पान-पात्र ले जाते, पर वह भौं चढ़ा कर मुंह फेर लेतीं।

नाचते-नाचते तरला अपने दल से आगे बढ़ कर अकेली ही सम्राट् के पास आकर अपनी कला दिखाने लगी। सब उसका कौशल देख कर दंग रह गये। सारी सभा चित्रलिखी-सी हो गई। सम्राट् ने अपना हाथ बढ़ा दिया, तरला ने निर्भीकता से उसे पकड़ लिया।

सम्राट् ने उल्लास से कहा—"तरले, तू धन्य है। आ, मेरे गले से लग जा।"

सम्राट् की छाती से वह चिपट गई। उन पर कटाक्षपात करने लगी। इसके साथ ही एक तीक्ष्ण कटार भी उनकी छाती में बेध उठा। "कादं—"इतना ही कह पाये थे कि उनके हृदय से रक्त का फौव्वारा छूटने लगा। वे सिंहासन से गिर पड़े।

इतने बड़े साम्राज्य का अधिकारी, भूमि पर निःसहाय छटपटाता हुआ टूटे-फूटे वाक्यों में कहने लगा—"हा-य-त-र-ला-य-ह-क्या—"

सारा मण्डप तलवारों की खनक से झंकारित हो उठा। तरला निश्चल निडर खड़ी थी। उसके सिरपर कितनी ही तलवारें चमक रही थीं।

महारानी ने तन कर हाथ आगे बढ़ा के कहा—"खबरदार, जो तरला का बाल भी बांका हुआ—तरले, तू मेरी बहिन है! देख—"पागलों

की भांति लाल-लाल, आंखें निकाल कर, स्फटिक का मद्याधार अपने हाथ में लिए हुए महिषी कहने लगीं—

"देख। यह मदिरा मेरे सुख की, मेरे सुदिन की, मेरे प्रेम की, मेरी स्वतन्त्रता की, बाधक थी। इसने मेरे नाथ को मुझसे कितनी दूर बिलगा दिया था। इसे मैं कितने बार तोड़-फोड़ चुकी हूँ। इसी तरह सम्राट् भी तेरे सुख, तेरे सुदिन, तेरे प्रेम और तेरी स्वतन्त्रता के बाधक थे। उन्होंने तुझे तेरे प्रकृत जीवन से कितना बिलगा दिया था। फिर यदि तू ने उनका हृदय छेद डाला तो क्या बुरा किया! हम-तू बहिनें हैं, संगिनी हैं, समदुःखिनी हैं। आ, हम-तू नाचें।"

एक ओर एक हाथ में मद्यपात्र ऊँचा किये सम्राज्ञी, दूसरी ओर रक्त-सिक्त कटार उठाये तरला, हाथ मिला कर उन्मत्त-नृत्य नाचने लगीं। लोग अवाक् थे, कांप रहे थे। जान पड़ता था कि साक्षात् काली और चण्डिका ही जगती-तल पर उतर आई हों। सम्राट् ठंढे हो चुके थे।

नाचते-नाचते सम्राज्ञी ने स्फटिक की सुराही जोर से अपनी छाती पर दे मारी। वह हार के जड़ाऊ टिकरे से टकरा कर चूर-चूर होगई। सारी मदिरा सम्राट् के शव पर फैल गई। केवल सुराही की गरदन महिषी के हाथ में रह गई। तब वह अट्टहास करके कहने लगीं—"ले, आज तुझे सदा के लिए तोड़ती हूँ।"

तरला भी विकट हास्य हँसने लगी। वह भी बोली—"ले, रे कटार, आज तुझे सदा के लिए कोष में रखती हूँ!"

तरला ने जोर से उसे अपनी छाती में भोंक लिया। महिषी ने भक् से सुराही का मुंहकड़ अपनी गरदन में धँसा लिया।

हाथ पकड़े हुए दोनों संग ही धड़ाम से सम्राट् पर गिर पड़ीं।

वसन्त का स्वप्न

नदी का किनारा पतझड़ में गिरी हुई पीली पत्तियों से ढका था। वृक्षों की डालें नंगी थीं।

नदी एकरस बह रही थी। उस पार कटे हुए खेत पड़े थे।

कहीं से घूमता हुआ एक वनेचर आकर एक पेड़ तले बैठ गया। जमीन पर पड़ी सूखी पत्तियां खड़खड़ा उठीं।

वह युवक था—उसका सांवला शरीर ठिगना, गठीला और सुडौल था। उसके रूखे किन्तु घुंघराले बालों की कड़ी लटें उसके कन्धों पर झूम रही थीं। हाथ में एक बंसी थी।

युवक ने उसे बजाना चाहा, पर उसी समय पांसुल पवन का एक झोंका उसके कान के बगल से सन्-सन् करता हुआ निकल गया। उसका जी उदास हो उठा। उसने बंसी रख दी और नदी की ओर देखने लगा। वायु से उड़ कर पत्तियां नदी में गिरती थीं, फिर इधर से उधर आन्दोलित होकर धार में पड़ के जाने कहां बह जाती थीं।

उसका मन न लगा, वह निरुद्देश-सा होकर लेट गया; सो गया। ऐसे समय में नींद ही प्राणी का आश्रय होती है।

युवक अँगड़ाई लेकर आंख मलता हुआ उठ बैठा। क्योंकि उसके कान में बंसी के मीठे सुर प्रविष्ट हुए थे, जिन्होंने उसे निद्रा की गोद से हठात् छीन लिया था।

उसने देखा कि चारों ओर वसन्त-विभा फैली हुई है—प्रभात का सजीव और सुहावना समय है।

सारा कानन चित्र-विचित्र कुसुमों और पल्लवों से सज उठा है। हुलसी भ्रमरावली फूल-डोल पर पेंगें ले रही है। सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं, वह छक कर मौज के गीत गा रही है। पल्लव करताल दे रहे हैं।

भावुक चपल पवन लतिकाओं से छेड़-छाड़ कर रहा है, उन्हें गुदगुदा रहा है, झकझोर रहा है। वे खिलकर हँस के फूलों की झड़ी लगा रही हैं। और, कँटीले गुलाब की कलियां उनकी चुटकी ले रही हैं। एक नई तबीअत का जोश चारों ओर हिलोरें मार रहा है। ऐसे रम्य समय में युवक के सामने एक सुन्दरी बैठी है। जो उसी की बंसी बजा रही है। भावों के उद्रेक से उसका कण्ठ और उँगलियां दोनों कांप रहे थे, अतः वह जो कुछ बजा रही थी, वह स्वप्न-विक्षिप्त मेघमाला की तरह कुछ का कुछ रूप धारण कर रहा था।

वह उसकी ओर कुतूहल से देखने लगा, क्योंकि पूर्व जन्म की भूली हुई बात की तरह उसके हृदय पर उस सुकुमारी की छाया तो थी, किन्तु वह उसे जान न सकता था।

रमणी माया की तरह रहस्य-मय, कुहुक की तरह चमत्कार-पूर्ण, शिशु-हृदय की तरह सरल, चन्द्रिका की तरह निर्मल, कला की तरह मंजुल और प्रकृति की तरह अकृत्रिम थी। किन्तु आतप की सरसी की तरह वह सूख गई थी। उसका मुंह प्रभात-चन्द्र की तरह पाण्डु पड़ रहा था। उसकी आंखें मरुस्थल की तरह सूखी एवं उजाड़ गांव की तरह सूनी थीं और उसके केश में स्नेह के बिना लटें पड़ गई थीं। उसका हृदय कवि की अपूर्ण कल्पना की तरह था और उसके शरीर पर आभूषणों का पता न था। इस सब से यद्यपि उसकी सुन्दरता में कोई कमी न पड़ती थी, किन्तु ये उस चमन के उजड़ जाने का हाल अवश्य सुनाते थे।

युवक एकटक उसकी ओर देख रहा था। वह गोरखधंधे में पड़ गया था। अन्त को वह अपने को न रोक सका। उसने पूछा ही तो--

"सुन्दरी, तुम कौन हो?" प्रश्न में याचना थी।

"अच्छे रहे, इतनी जल्दी भूल गए" उत्तर मिला। उसका गला भर आया था, आंख से दो बूंद आंसू भी कपोलों पर ढल आए थे। "तुम्हें याद नहीं। मैं याद दिलाती हूँ---अभी कल, जब शरद में चन्द्रकला समुदित होकर कमल से कहती थी कि 'दो सौन्दर्य एक ठौर नहीं रह सकते, तुम अपना मुंह छिपा लो। तुम्हारी यह सामर्थ्य कि मेरी होड़ करो', और कमल कहता कि 'सुन्दरी, मेरी और तुम्हारी कौन तुलना। पर मुझे अपना सौन्दर्य तो निरख लेने दो।' इस पर चन्द्रकला कुपित हो उठती---'कदापि नहीं। जल्दी अपनी आंख मूंद लो।' अब कमल गम्भीर मुद्रा बना कर यह उत्तर देता हुआ कि 'लो, आंखें तो बन्द किए लेता हूँ, किन्तु इसमें जो तुम्हारी एक किरण चुराये लेता हूँ, उसे कैसे छीनोगी?' अपने नेत्र मींच लेता। उस समय हम-तुम ठीक इसी जगह आ कर इसी नदी की शोभा देखा करते, क्योंकि मेरा जीवन जुराफे की तरह तुम्हारे जीवन से मिला था। बीच-बीच में जब तुम मधुर दृष्टि से मेरी ओर देखते, तब मैं प्रसन्नता के मारे मुस्करा देती और तुम मेरा हाथ दबाकर कहते---'क्यों चांदनी को फीकी किये डालती हो--जो छिटकी चांदनी नदी पर फिसल रही है, इन दांतों की आभा से लजा कर कहीं इसी में डूब न जाय।'

"चांदनी चाहे लजाती रही हो या न रही हो, किन्तु मैं लज्जा से गड़ जाती और तब तुम झुककर अपने इन्हीं बड़े-बड़े रतनारे नयनों से मुझ पर प्रेमामृत बरसाने लगते और मैं कृतकृत्य हो जाती। आज ठीक उसी स्थान पर तुम, मुझसे ऐसी बात पूछ रहे हो।

"बधिक से भी कहीं बढ़ कर कठोरतापूर्वक तुमने मेरा त्याग किया, फिर ऐसे भोले-भाले अजान बन कर बातें गढ़ते हो?

चकोर, चन्द्रविम्ब को देखता हुआ भी चेष्टा करने पर उस तक नहीं पहुँच सकता। युवक के हृदय की वही दशा थी, अतीत के दृश्यों को सामने देखते हुए भी वहां तक न पहुँच सकने से व्याकुल हो रहा था। तिस पर भी उसे अनुभव हो रहा था कि यह सब कोई इन्द्रजाल है।

सुन्दरी अपना ओठ चबा रही थी। उसने एक लम्बी सांस ली और बोली—"तुमने भरे वसन्त में मुझे छोड़ा है। जब पहले पहल तुमने विदेश जाने का प्रस्ताव किया, तब मैंने समझा कि यह भी एक चोज है। किन्तु मुझे शीघ्र ही मालूम हो गया कि तुमने जो कुछ कहा था, उसे करने पर उतारू थे—धीरे-धीरे तुम अपना सामान लगा रहे थे।

"एक दिन तुमने अपनी तैयारी कर ही तो दी।

"जब तुम्हारे बिछोह का समय आया, मैं सिहर उठी।

" 'प्यारे मुझे अकेली छोड़कर तुम विदेश न जाओ।' किसी तरह हृदय कड़ा कर के कांपते-कांपते, तुम्हारे चरण छूकर मैंने इतनी भीख मांगी। पर, तुमने मुझे ढाढ़स तक न दिया। हाय, तुम ऐसे निठुर, ऐसे निर्दयी, ऐसे बेपीर!

"मैं बिलबिला कर पतझड़ की पीली पत्ती की तरह जमीन पर गिर पड़ी। मेरे मुंह से औचक 'हाय' निकल पड़ा। उस सूने घर ने भी मेरे साथ हाय की प्रतिध्वनि की।

"मैं मूछित हो गई।

❀ ❀ ❀

"मैंने आंख खोल कर देखा कि मेरा सिर तुम्हारी गोद में है। तुम मेरा मस्तक गुलाब से शीतल कर रहे हो। मैंने फिर 'हाय' किया और

आंखें बन्द कर लीं, क्योंकि मुझे स्वप्न का धोखा हुआ था। पर आंख मूंदने पर वह धोखा जाता रहा। तब मैंने आंख खोल कर करुण नयनों से, रोती आंखों तुम्हारी ओर निहारा। तुमने कुछ खिसियाने-से होकर, कुछ मुस्करा कर कहा—'यदि मैं यह परिणाम पहले से जान सकता तो ऐसी हँसी न करता।'

"अब मुझसे न सहा गया। मैंने एक बार नयन तरेर कर तुम्हें देखा और आंखें बन्द कर लीं तथा अपना सिर तुम्हारी गोद से हटा लिया। मुझे मान आ गया; तुम भौंचक-से रह गए।

"तुमने गिड़गिड़ा के कहा—'प्रिये, वसन्त में ऐसा मान!'

"मैंने जी में कहा, 'स्नेह में ऐसी रूखी हँसी'!' मेरी भृकुटी चढ़ी थी; आंखें जमीन पर गड़ी थीं। तुमने मेरी ओर देखा, मैंने मुंह फेर लिया।

"आखिर न तुम्हीं मना सके, न मैं ही मानी।

"तुमने कहा, 'मैं ऋतुराज को साक्षी देकर कहता हूँ—मेरा हृदय टूक-टूक हुआ जाता है। अब मैं अधिक नहीं सह सकता। लो, अब मैं सचमुच चला।' तुम्हारी आवाज में निश्चय था, दृढ़ता थी, पर मैं न समझी!

"तुम उठ कर सामने के कुसुमित कानन की ओर चल पड़े। मेरा छैलाया हुआ मन एक क्षण में ठिकाने आ गया। मैं अप्रतिभ-सी एकटक देखने लगी। सूना हृदय धड़-धड़ धड़कने लगा। मैंने चिल्लाकर कहा 'ठहरो, ठहरो, मैं मान गई, हा, हा, खाती हूँ, एक बात तो सुन लो' पर तुमने पीछे फिर कर देखा तक नहीं; उलटे और डग बढ़ा दिया। मैं तुम्हारे पीछे दौड़ी। तुम्हारी चरण-धूलि मेरे ऊपर छा गई। मैं पुलकित हो उठी।

"संध्या हो रही थी। कुसुमित कानन में कहीं अंधकार और कहीं लालिमा आगे-पीछे हट बढ़ रहे थे। पंछियों के झुण्ड के झुण्ड संध्या की विश्रामदायिनी तानें लेते हुए बसेरा ले रहे थे और सारा दिन वसन्तामोद से छक कर कानन भर में अटपटी चाल से डोलने वाला पवन अब विभोर और निस्तब्ध हो रहा था। कुसुम अलसा रहे थे। और भ्रमर-भीर सुमन-शैय्या पर शयन करने के लिए झुक रही थी।

"किन्तु मैं तुम्हें न पा सकी। सांध्य-अरुणिमा की भांति तुम भी जाने कहां छिप गए। मैं पागल होकर इधर-उधर टक्कर मारने लगी।

"आकाश ने रात्रि की रहस्यमयी चादर ओढ़ ली। मैं तारकाओं के अस्फुट आलोक में पुष्पों को जगाने लगी। मैंने उनसे कहा कि मेरे लिए एक बूंद, बस एक बूंद आंसू ढाल दो, पर उन्होंने न सुना; तब मुझे विरक्ति हो उठी।

"मैंने ढेर का ढेर फूल बटोर डाला।

"अब मैं एक फूले अर्जुन-तले बैठ गई। मन में तरंग उठी कि इनके आभूषण बना कर अपने को खूब साज लूं। तब शायद इस हाव पर तुम रीझ उठो और प्रकट हो जाओ। क्योंकि मुझे ऐसा जान पड़ने लगा था कि तुम छिपे-छिपे मेरे पीछे घूम रहे हो। और, मेरी खोजने की मूर्खता की इस प्रकार अवहेला एवं नीरव ठठोली कर रहे हो।

"मैं नखसिख से सजी। तब उठ कर इधर-उधर टहलने लगी। मेरा हृदय बांसों उछल रहा था कि तुम अब आये, अब आये। किन्तु सब व्यर्थ। तब मैंने सोचा कि मेरी सजावट में अब भी कोई कसर है। किन्तु कोई दर्पण न था। लाचार बैठ कर आंखें बन्द करके मैं अपने शृंगार पर विचार करने लगी। इसी अवस्था में नटिनी निद्रा ने अपना जादू मेरे ऊपर चला दिया।

❀ ❀ ❀

"जब मेरी आंख खुली, तब रंगीली उषा अपने अभिसार की नीली ओढ़नी धीरे-धीरे खसका कर किसी का आगमन देख रही थी। किन्तु आश्चर्य यह था कि तुम वहीं थे । मैं ललक कर उठ बैठी । पर हाय, वह तो मेरी ही छाया थी। मैं अपने ही से छली गई ।

"मैं विलाप करने लगी। प्रभात का टटका समीर मेरे दर्द की कहानी संवहन करने में आगा-पीछा करने लगा। मैं उठकर गिरती-पड़ती वन-वन घूमने लगी। तुम न जाने कहां छाये थे। मैं सर्वत्र घूम आई, किन्तु तुम कहीं न मिले।

"तब निराशा ने मेरे कान में कहा—'क्यों दर-दर मारी फिरती है। यदि तेरे भाग में संयोग लिखा होता तो वे तुझे छोड़कर क्यों चल देते। अब तो तेरे लिए इसी में मंगल है कि तू यह पवित्र स्मृति हृदय में रक्खे हुए, इस सरिता की गोद में शीतल समाधि ले ले।'

"मैंने उसे गुरु मानकर यह मन्त्र ग्रहण किया, किन्तु इसकी सिद्धि में भी तुम बाधक हुए। मेरा, मर कर चैन पाने का, विचार भी तुम्हें खला !

"यहां पहुँच कर मैं देखती हूँ कि तुम गाढ़ निद्रा में सो रहे हो। अपने कष्टों का स्मरण करके एक बार मेरा मान जागृत हो उठा, किन्तु जब मैंने तुम्हारे मुख की ओर देखा, तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जिस प्रकार मैं तुम्हें खोजते-खोजते हार गई थी, उसी प्रकार तुम भी मुझे खोजते-खोजते थक कर सो गए हो।

"अब मेरी सहानुभूति जाग उठी और पुरातन प्रीति ने कस के मेरा पल्ला पकड़ लिया। जिस तुम्हारी ही बंसी को बजाकर पहले अनेकों बार तुम्हें ही मन्त्र-मुग्ध किया था, आज मैं उसे एक बार फिर बजा उठी। तबीयत ही तो है, न मानी, मचल पड़ी ।"

"हाय प्रिये, तुम्हें भुलावा देने में मैं स्वयं भूल गया। अब सब याद

आ गया, किन्तु आओ अब हम उन स्मृतियों को विस्मृत कर दें।" युवक के हृदय में एक भूकम्प आ गया था। उसने यह बात गद्गद और आविष्ट स्वर में कही थी। साथ ही उसे छाती से लगाने के लिए उसने हाथ फैलाये, किन्तु वह रमणी ज्ञानी के लिए माया की तरह, पार्थिव चक्षु के लिए अमरावती की तरह और सूर्य के लिए उषा की तरह जाने कहां अदृश्य हो गई।

तब मूढ़ होकर, हतबुद्धि होकर, अप्रतिभ होकर और व्याकुल होकर वह अपनी सूनी आंखों से चारों ओर देखने लगा और उसने पाया कि पतझड़ में सोकर, अचानक उठने पर जो वसन्त का स्वप्न वह अभी तक देख रहा था, उसका कहीं पता भी नहीं। अब तो विश्व में निदाघ का अटल राज्य है।

और—उसके हृदय में भी झुलसा देनेवाली लू धू, धू, करके चल उठी है।